देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला—१५

मोहें जो दड़ो
तथा
सिंधु सभ्यता

लेखक
श्री सतीशचन्द्र काला, एम० ए०

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
१९९८

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

—मेघदूत २-४६ ।

[सुख-दुःख किसी के भी सदा एक से नहीं रहते । परिवर्त्तन विश्व का नियम है । रथ के पहिए की तरह संसार की दशा ऊपर-नीचे घूमती रहती है ।]

माला का परिचय

जोधपुर के स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ इतिहास और विशेषतः मुसलिम-काल के भारतीय इतिहास के बहुत बड़े ज्ञाता और प्रेमी थे तथा राजकीय सेवा के कामों से वे जितना समय बचाते थे, वह सब वे इतिहास का अध्ययन और खोज करने अथवा ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने में ही लगाते थे। हिंदी में उन्होंने अनेक उपयोगी ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे हैं जिनका हिंदी-संसार ने अच्छा आदर किया है।

श्रीयुत मुंशी देवीप्रसाद की बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि हिंदी में ऐतिहासिक पुस्तकों के प्रकाशन की विशेष रूप से व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिये उन्होंने ता० २१ जून १९१८ को ३५०० रु० अंकित मूल्य और १०५०० रु० मूल्य के बंबई बंक लि० के सात हिस्से सभा को प्रदान किए थे और आदेश किया था कि इनकी आय से उनके नाम से सभा एक ऐतिहासिक पुस्तकमाला प्रकाशित करे। उसी के अनुसार सभा यह 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' प्रकाशित कर रही है। पीछे से जब बंबई बंक अन्यान्य दोनों प्रेसीडेंसी बंकों के साथ सम्मिलित होकर इंपीरियल बंक के रूप में परिणत हो गया, तब सभा ने बंबई बंक के हिस्सों के बदले में इंपीरियल बंक के चौदह हिस्से, जिनके मूल्य का एक निश्चित अंश चुका दिया गया है, और खरीद लिए और अब यह पुस्तकमाला उन्हीं से होनेवाली तथा स्वयं अपनी पुस्तकों की बिक्री से होनेवाली आय से चल रही है। मुंशी देवीप्रसाद का वह दानपत्र काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के २६वें वार्षिक विवरण में प्रकाशित हुआ है।

अपने विषय में

दीपावली के दिन सिंध में,

रात्रि की नीरव निश्चलता में वायु के विशाल सागर को चीरती हुई गाड़ी अचानक डोकी स्टेशन पर खड़ी हुई। इधर उधर खलबली मची। यात्री जल्दी जल्दी सामान उतरवा रहे थे।

स्टेशन से बाहर आकर कुली ने पूछा—'हजूर कहाँ जाना है।' मैंने कहा—'मोहें जो दड़ो'*।

एक कौतूहल-पूर्ण हास्य की रेखा कुली के मुख-मंडल पर दौड़ गई।

कुछ क्षण चुप रहने के बाद वह बोल उठा—हजूर, आज दीवाली का दिन है। इस खुशी के दिन लोग शहरों को रोशनी देखने जाते हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि आज आप एक उजाड़ शहर देखने क्यों जा रहे हैं।

---

* साधारणत: यही नाम प्रचलित है। पर मोढेरा (उत्तर गुजरात) से ठा० खेतसिंह नारायण जी मिश्रण लिखते हैं—"सिंधी भाषा में इसका शुद्ध नाम 'मुहें जो डेरो' (= मरे हुओं का टीला) है"। यह सूचना पुस्तक छप जाने पर प्राप्त हुई।

—प्रकाशक

अचंभे में आकर मैंने गरीबी से झुलसे उस कुली के शरीर को सिर से पैर तक देखा। यह घटना आज से ठीक पाँच वर्ष पूर्व की है।

× × × ×

इस घटना का मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उस दिन तक मैं भारत के एक बड़े समाज की अज्ञानता के विषय में सोचता भर था; किंतु वह दिन उन कहानियों को प्रत्यक्ष रूप में भी ले आया। मैंने उसी समय यह संकल्प किया कि पुरातत्त्वविषयक कुछ पुस्तकें हिंदी भाषा में लिखूँगा। तब से इन पाँच वर्षों में संसार ने अनेक दिशाओं में अपनी काया पलटी है और मैं भी संसार की क्रीड़ास्थली का एक तुच्छ जीव होकर इन परिवर्त्तनों से अछूता नहीं रहा हूँ। लगभग तीन वर्षों तक मैं भारत के विभिन्न प्रांतों में संग्रहालय-रक्षण, पुरातत्त्व तथा कला की शिक्षा प्राप्त करता रहा। इस अव्यवस्थित जीवन से मेरे पुस्तक-लेखन के कार्य में बड़ी बाधा पड़ी। अन्य व्यक्तिगत बाधाओं ने भी मुझसे बदला चुकाने का यही एक उपयुक्त अवसर समझा। किंतु आज की परिस्थिति-विशेष में भूत की प्रतिकूल घटनाएँ भी मुझे अनुकूल जान पड़ रही हैं। इस बीच पर्याप्त अवकाश पाकर एक लाभ तो मुझे यह हुआ कि मैं सिंधु-सभ्यता के अवशेषों का ध्यानपूर्वक एवं प्रत्यक्ष अध्ययन कर सका। इसके अतिरिक्त इस बीच मुझे इतिहास के अनेक विद्वानों से भेंट करने तथा उनकी कृतियों को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ जिससे मेरे इतिहास-ज्ञान को नवीन चेतना प्राप्त हुई है।

इस पुस्तक के लिखने में मैंने पांडित्य की कृत्रिम ममता तथा लोभ से दूर रहने का प्रयत्न किया है। प्रातःस्मरणीय पितामह भीष्म के शब्द "एको लोभो महाग्राहो लोभात्पापं प्रवर्तते" मुझे प्रतिक्षण सावधान करते रहे हैं, तथापि स्वाभाविक मनुष्य-प्रवृत्ति के कारण मुझे अपनी धारणाओं को प्रकट करने में संकोच नहीं हुआ है। कह नहीं सकता कि मेरा इस दुरूह विषय का विश्लेषण विद्वानों को कहाँ तक मान्य होगा। इधर हिंदी-साहित्य में विशुद्ध पुरातत्त्वविषयक एक भी पुस्तक नहीं है और इसी भारी कमी को पूर्ण करने का एक संकेत इस पुस्तक के रूप में अवतरित हुआ है। पुस्तक की अधिकतर सामग्री मैंने सर जॉन मार्शल, डा० मैके, श्री काशीनाथ नारायण दीक्षित, (स्व०) श्री ननीगोपाल मजूमदार तथा श्री माधवस्वरूप वत्स की पुस्तकों से ली है। इसके अतिरिक्त मैंने आज तक प्रकाशित सिंधु-सभ्यता संबंधी अनेक लेखों का अध्ययन करके इस पुस्तक में विद्वान् लेखकों की धारणाओं का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है। यह सत्य है कि इनमें कई धारणाएँ विवादग्रस्त हैं और उनपर विद्वानों में मतभेद हैं। किंतु एक इतिहासज्ञ को प्रत्येक शोधक की धारणाओं का आदर करते हुए उनका गंभीर रूप से विवेचन करना चाहिए। हम सभी प्राणी ईश्वर की इस सृष्टि में विभिन्न सूझ, समझ तथा मस्तिष्क लिए उद्भूत होते हैं। अतएव अकारण ही हमें शोधकों की धारणाओं को महत्त्व-शून्य तथा उपेक्षणीय घोषित नहीं करना चाहिए।

इतिहास में हमें सत्य को विशेष स्थान देना चाहिए। इतिहासज्ञ का सत्यभाषी होना नितांत आवश्यक है। आधुनिक काल में राष्ट्रीय

भावनाओं से प्रेरित होकर इतिहास लिखनेवालों की एक धारा सी उमड़ पड़ी है। देश में वीरपूजा की रूढ़िगत प्रवृत्ति के कारण समाज पर उनका प्रभाव भी स्थिर हो रहा है। किंतु इससे देश के इतिहास का बड़ा अहित हुआ है। ऐसे लेखकों का हमें सहर्ष स्वागत करना चाहिए, परंतु तभी जब कि वे देश-प्रेम के आवेश में आकर सत्य की अवहेलना न करें। इतिहासज्ञ अपने वर्णन की यथार्थता के द्वारा ही किसी युग, किसी सभ्यता अथवा किसी संस्कृति का सम्यक् दिग्दर्शन करा सकता है। पुरातत्त्व ने तो आज हमारे लिये इतिहास की शृंखलाओं को जोड़ने की सुंदर सामग्री प्रस्तुत कर दी है। अतः इस बात की पूर्ण आशा की जा सकती है कि जागरण तथा विश्व-क्रांति के इस युग में भारतीय इतिहासज्ञ पुरातत्त्व का आश्रय लेकर भारतीय इतिहास के नव-निर्माण में सहायक होंगे।

अभी तक भारत के प्रागैतिहासिक युग पर विशेष अनुसंधान नहीं किए गए हैं। कुछ भूगर्भशास्त्रियों का ध्यान अवश्य इस ओर आकर्षित हुआ है, किंतु उनका ध्येय इतिहास-निर्माण नहीं है। यह निर्विवाद है कि भारत में प्रागैतिहासिक युग की प्रचुर सामग्री है। क्या यह आशा करना अनुचित होगा कि निकट भविष्य में हमारे देश की कोई संस्था या इतिहासज्ञ इस विशेष विषय पर अनुसंधान कर भारत के प्रागैतिहासिक युग की सभ्यता पर प्रकाश डालेंगे?

इस पुस्तक के अनेक स्थलों पर मैंने तुलनात्मक दृष्टिकोण का आश्रय लिया है और साथ ही अनेक लौकिक एवं धार्मिक पद्धतियों का उद्गम बतलाने का भी प्रयत्न किया है। फिर ऐतिहासिक काल में

इन परंपराओं का क्या स्वरूप था और आज क्या रह गया है, इस प्रश्न पर भी प्रकाश डालने की मैंने चेष्टा की है। वैदिक सभ्यता का उल्लेख तो संभवतः आवश्यकता से अधिक हो गया है। किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वैदिक तथा सिंधु-प्रांत की सभ्यताएँ एक सी थीं। अनेक विद्वानों का पदानुसरण करते हुए मैं भी सिंधु-सभ्यता को अनार्य सभ्यता मानता हूँ। किंतु यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि इन दोनों सभ्यताओं में कई बातों में समानता भी है। ऋग्वेद प्राचीन आर्य महर्षियों के ज्ञान तथा कई युगों की विशिष्ट सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का अक्षय भंडार है और अनेक परंपराओं का मूल जानने के लिये इस ग्रंथ की शरण लेना परम आवश्यक है।

इतिहास-निर्माण की सामग्री हमें केवल शुष्क तथा रक्तहीन हड्डियों और नसों के रूप में प्राप्त होती है। इसमें न तो मनुष्य की कल्पना और न किसी प्रकार का शब्दजाल ही सहायक हो सकता है। इस कठिनाई के कारण कदाचित् कुछ पाठकों को यह पुस्तक रूखी जान पड़े। फिर मुझे अनेक अँगरेजी शब्दों के उचित हिंदी नाम भी प्राप्त नहीं हो सके हैं। अनेक शब्दों के लिये मुझे स्वयं एक भाषाविद् का चोला पहिनना पड़ा है। मैं कह नहीं सकता कि मुझे अपने प्रयास में कहाँ तक सफलता मिली है, किंतु मैं अपने प्रेमी पाठकों के सम्मुख महाकवि तुलसीदासजी के इन शब्दों को ही रख कर संतोष कर लेता हूँ—

"समुझि विविध विधि विनती मोरी, कोउ न कथा सुनि देइ हि खोरी।"

भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर-जनरल रावबहादुर श्री काशीनाथ नारायण दीक्षित, एम० ए०, एफ० आर० ए० एस० बी० ने इस पुस्तक के लिये पचीस ब्लाक तथा कुछ चित्रों के ब्लाक बनाने की अनुमति देने की कृपा की है। समय समय पर आपने मुझे इस पुस्तक के संबंध में अनेक सलाहें भी दी हैं। आपकी इन असीम कृपाओं के लिये मैं हृदय से आपका ऋणी हूँ।

खेद है कि कतिपय कारणों से चित्र सं० २०,२१ तथा २२ के ब्लाक नहीं बन सके हैं।

इस पुस्तक की रूप-रेखा प्रस्तुत करने में मेरे मित्र, प्रांतीय संग्रहालय, लखनऊ के विद्वान् अध्यक्ष श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल्-एल० बी० तथा मेरे अभिन्नहृदय श्री श्यामाचरण काला, एम० ए० ने बड़ी सहायता की है। मैं आप लोगों का आभारी हूँ।

जियोलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया के डाइरेक्टर महोदय ने मुझे अनेक बहुमूल्य तथा अल्पमूल्य पत्थरों के नाम बतलाने की कृपा की है, जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

इस पुस्तक की अधिकतर सामग्री मैंने सेंट्रल आरकियोलॉजिकल लायब्रेरी, नई दिल्ली ; इंडियन म्यूजियम आरकियोलॉजिकल सेक्शन लायब्रेरी, कलकत्ता ; इंपीरियल लायब्रेरी, कलकत्ता ; प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम लायब्रेरी, बंबई ; पब्लिक लायब्रेरी, इलाहाबाद तथा बनारस हिंदू युनिवर्सिटी लायब्रेरी से संचय की है। मुझे इन सब पुस्तकालयों

के अध्यक्षों ने अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी हैं, जिसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

मेरे गुरु डा० रमाशंकर त्रिपाठी, एम० ए०, पी०-एच० डी० (लंदन) ने इस पुस्तक के कुछ अध्यायों को देखने की कृपा की है। मैं आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने इस पुस्तक का प्रकाशन-भार लेकर हिंदी साहित्य के एक बड़े अभाव को पूरा किया है। सिंधु-सभ्यता संबंधी जो थोड़ी पुस्तकें हैं भी वे एक तो अँगरेजी भाषा में हैं और दूसरे उनका मूल्य भी बहुत अधिक है। सभा ने इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा इन कठिनाइयों को दूर कर दिया है। इस कार्य के लिये सभा के अधिकारीगण तथा भारत कलाभवन के प्राण श्री राय कृष्णदास मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

अंत में मैं इतिहास के उन उद्भट विद्वानों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ जिनसे मिलकर तथा जिनके लेखों को पढ़कर मेरा इतिहास-ज्ञान अनेक दिशाओं में आलोकित हुआ है।

तीन वर्ष के अविश्रांत जीवन के पश्चात् एक बार फिर विद्यार्थी-जीवन की ओर लौटना मेरे जीवन की एक असाधारण घटना है। कदाचित् भगवान् बुद्ध का स्नेहमय आदेश था कि मैं त्रिधर्म तथा संस्कृति की इस अनुपम त्रिवेणी श्री पुण्या वाराणसी में आकर अपने जीवन की अंतिम शिक्षा ग्रहण करूँ। इस नवीन परिस्थिति में पहुँचकर मुझे इतना पर्याप्त अवकाश नहीं मिला कि मैं इस पुस्तक में आवश्यक संशोधन आदि कर सकूँ। किंतु मैं प्रेमी पाठकों

को विश्वास दिलाता हूँ कि अपने गुरुजनों से प्राप्त विमल शिक्षा के प्रकाश में मैं इस पुस्तक को द्वितीय संस्करण में पूर्ण बनाने का यथाशक्ति यत्न करूँगा ।

यदि इस पुस्तक के पन्नों पर दृष्टिपात करने से भारत के थोड़े से भी व्यक्ति प्राचीन भारतीय संस्कृति की आत्मा तथा वास्तविक मूल को पहिचानने में समर्थ हो सकें तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा ।

चितरंजन एवेन्यू,
साउथ, कलकत्ता
दीपावली, सं० १९९७.

सतीशचन्द्र काला

निर्देश

(१) सर जॉन मार्शल (संपादक)—

मोहें जो दड़ो ऐंड इंडस सिविलाइजेशन, ३ जिल्द–मो० इं० सि० ।

(२) डा० अ० मैके—

फर्दर एक्सकैवेशंस ऐट मोहें जो दड़ो, २ जिल्द—फ० य० मो० ।

(३) श्री माधवस्वरूप वत्स—

एक्सकैवेशंस ऐट हड़प्पा, २ जिल्द—य० ह० ।

(४) श्री काशीनाथ दीक्षित—

प्रिहिस्टॉरिक सिविलाइजेशन ऑव दि इंडस वैली–प्री० सि० इं० वे० ।

(५) डा० अ० मैके—

दि इंडस सिविलाइजेशन—इं० सि० ।

(६) रैप्सन (संपादक)—

कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द १ – कैं० हि० इं० ।

रिपोर्ट, जर्नल आदि

(७) मेमॉयर्स ऑव् दि आरकियालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया—आ० स० मे० ।

(८) आरकियोलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट—आ० स० रि० ।

(९) इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली (कलकत्ता)—इं० हि० क्वा० ।

(१०) जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी—ज० रा० ए० सो० ।

(११) जर्नल रॉयल ऐंथ्रॉपॉलॉजिकल सोसाइटी (बंबई)–ज० रॉ० ऐं० सो०।

(१२) ,, ,, ,, इंस्टीट्यूट—ज० रॉ० ऐं० इं०।

(१३) ऐनुअल बिबलियोग्रैफी ऑव इंडियन आर्कियोलॉजी (कर्न इन्स्टीट्यूट) ऐ० बि० इं० आ०।

(१४) जर्नल इंडिया सोसाइटी ऑव ओरियंटल आर्ट—ज० इं० सो० ओ० आ०।

(१५) जर्नल यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी—ज० यू० पी० हि० सो०।

(१६) जर्नल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल—ज० ए० सो० बं०।

—————

विषय-सूची

चित्र-सूची

---

* पृ० १४८ पर चित्र सं० २ के बदले ३ छप गई है। कृपया पाठक सुधार कर पढ़ लें।

लेखक की शीघ्र प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें—

१—भारत की प्राचीनतम मूर्त्तिकला।

२—आधुनिक भारतीय चित्रकला में प्रयोग की भावना।

३—नेचर इन आर्ट (अँगरेजी में)।

स्वर्गीया

राजू दीदी को—

सिंधु प्रांत का मानचित्र

मोहेंजोदड़ो तथा सिंधु सभ्यता

प्रथम अध्याय

सिंधु प्रांत

सभ्यता आवश्यकताओं की जननी है और आवश्यकताएँ आविष्कारों की उत्पादिका होती हैं। इसी परम सत्य के अनुसार मनुष्य की गवेषणात्मक प्रवृत्ति कर्मण्य होती है और वह एक अपूर्व उत्सुकता से अभिभूत हो जाता है। अंतरात्मा में प्रश्न उठते हैं—संसार में जो पहले था, वही अब भी है, या अब परिवर्तित रूप में दृष्टिगोचर होता है ? यदि परिवर्तन हुआ तो किन परिस्थितियों में और कैसे तथा कब ? क्या मनुष्य की ही तरह सब वस्तुएँ आयुक्रम के अधीन हैं ? इत्यादि। यही जिज्ञासाएँ किंवदंतियों और दंतकथाओं की ओर मनुष्य के ध्यान को आकृष्ट करती हैं। इनके विश्लेषण की ओर वह प्रवृत्त हो जाता है।

हम आज सभ्यता की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं। इस सीढ़ी पर पहुँचकर हम पीछे देखने के लिये उत्सुक हो रहे हैं। हमें ध्यान

हो आता है अपने वैदिककालीन आर्य्यों का, उपनिषद्, ब्राह्मण, रामायण, महाभारत और पुराण निर्माणकर्त्ताओं का और तद्गत महापुरुषों का तथा आज अविश्वसनीय सभ्यता के अंगों का। हम आश्चर्य्य करते हैं राम ने समुद्र में कैसे पुल बाँधा होगा ? पुष्पक-विमान क्या वस्तु रही होगी ? महाभारत के युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना और उसके योद्धाओं ने कैसे वे सब विचित्र कौशल दिखलाए होंगे। योरप के वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रभावित होकर हम सोचने लगते हैं क्या हमारे यहाँ भी ऐसे मनीषी हुए हैं ? हम पढ़ते हैं, संसार की समस्त ज्ञानराशि मनुष्य की मस्तिष्क-कक्षाओं में चेतन और अर्धचेतन अवस्थाओं में रहती है। विचार आता है—प्राचीन काल में भी तो रही होगी। यही विचार एक से एक शृंखला-बद्ध होकर हमको इतिहास के आदि-काल तक ले जाते हैं। लेकिन हमारी तत्त्वान्वेषण-प्रवृत्ति इतिहास की दीवारों को भेदकर 'उस पार' झाँकने के लिये उत्सुक हो उठती है और परिणाम-स्वरूप हमारा ध्यान पुरातत्त्व विभाग पर जाता है जो अपने कार्य्यों से संसार के ज्ञान-भांडार को भर रहा है।

खोज और अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि प्रत्येक संस्कृति की आयु होती है—उसकी बाल्य, युवा तथा वृद्धावस्था होती है। हमारी आज की संस्कृति एवं सभ्यता का भी कोई न कोई स्वरूप तथा आधार रहा होगा।

संस्कृति के तत्त्वान्वेषण के लिये आज की वैज्ञानिक सुविधाओं ने मार्ग सरल कर दिया है। भूगर्भ-विद्या के प्राप्त ज्ञान के आधार पर पृथ्वी के पर्त्तों को उखाड़कर प्राचीन संस्कृति को प्रकाश में लाया जा रहा है। पत्रों की सहायता से खोदी हुई वस्तुओं की आयु नापी जा रही है और इन सब साधनों से ५००० वर्ष पहले तक के मनुष्यों के रहन-सहन और साधारण संस्कृति का अंदाजा लगाया जा सका है।

अँगरेजी साम्राज्य स्थापित होने पर लोगों में भारतीय इतिहास को जानने की प्रबल इच्छा हुई। अठारहवीं सदी के अंत में भारतीय इतिहास के भग्नावशेषों की खोज जनरल सर अलेकजेंडर कनिंघम ने की। उन्होंने हुयेनसांग के भ्रमण-ग्रंथों की शरण ली और बहुत से प्राचीन स्थान ढूँढ़ निकाले। उनकी खोजें महत्त्वपूर्ण तो हैं किंतु नवीन प्रकाश पड़ने पर आज उनकी अनेक धारणाओं का खंडन होता जा रहा है।

सन् १९०० ई० में भारत के भूतपूर्व वायसराय लार्ड कर्जन ने एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल की एक सभा में भाषण देते हुए कहा था—

"असीरिया, मिस्र तथा योरप के कुछ भग्नावशेषों के साथ तुलना करने पर अधिकतर भारतीय भग्नावशेष अधिक प्राचीन नहीं ठहरते। यह हो सकता है कि मेरी धारणा संदेहजनक हो, किंतु मेरा विचार है कि भारत का प्राचीनतम स्मारक भिन्न-

भिन्न प्रकार की कला तथा शिल्प से सुसज्जित साँची का स्तूप है, जिसकी वेदिका का निर्माण ई० पू० तीसरी शताब्दी के लगभग हुआ होगा। उस समय चाल्डिया के राजमहल, मिस्र की गुफा मसजिदें तथा पिरैमिड सैकड़ों वर्ष प्राचीन हो चुके थे। भारत में एथेन्स के पैरेथियोन के सदृश कोई अन्य इमारत नहीं है*।"

पुरातत्त्व-विभाग के स्थापित होने से पहले भारतीय इतिहास की बहुत कम दृष्ट सामग्री थी। यह सत्य है कि दंत-कथाओं के आधार पर भारत का एक सुचारु इतिहास बन सकता था, किंतु उसकी सत्यता पर सभी संदेह करते। क्योंकि स्वभावत: मनुष्य प्रत्येक घटना की सत्यता के लिये प्रमाण माँगता है। परिणामत: लोग भारत की धार्मिक महत्ता, उसके पारलौकिक, लौकिक-दर्शन तथा आचार-विचार की श्रेष्ठता को मानते तो अवश्य थे, किंतु भारतीय इतिहास की सामग्री को वे बहुत पीछे नहीं ले जाते थे। भीठा, राजगृह, पाटलिपुत्र, वैशाली आदि स्थानों की खुदाई में भी ऐसे कोई महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त नहीं हुए जिनसे कि अति प्राचीन समय पर कुछ प्रकाश डाला जाता।

---

* प्रोसिडिंग्ज ऑव दी एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल १९००, पृ० १५७।

किंतु सन् १९२२ ई० में भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य्य कर डाला। इस साल प्रागैतिहासिक युग की जो वस्तुएँ मोहें जो दड़ो में मिलीं, उन्होंने भारत के अंधकारमय युग पर नवीन प्रकाश डाल दिया है। यदि आज लार्ड कर्जन भी यहाँ पर होते तो प्रसन्नता के साथ, अपनी धारणा में परिवर्तन करते हुए अपने को गौरवान्वित समझते। वास्तव में लार्ड कर्जन का ध्येय भारतीय इतिहास की महत्ता को कम करना न था। कर्जन सौंदर्य के अनन्य उपासक थे, और वे अस्त सभ्यताओं के मनुष्यों तथा अवशेषों का विशेष आदर करते थे।

गत ४० वर्षों में भीठा, पाटलिपुत्र, तक्षशिला, वैशाली, सारनाथ, सहेत महेत, लौरिया नंदनगढ़, पहाड़पुर, राजगृह, नालंदा आदि आदि प्राचीन स्थानों में पुरातत्त्व विभाग ने विशद खुदाइयाँ की हैं। प्रसन्नता की बात है कि इन स्थानों से प्राप्त वस्तुओं के आधार पर भारत का बहुत कुछ इतिहास ज्ञात हो गया है।

यदि आज ये वस्तुएँ हमारे सम्मुख न होतीं तो हम भारतीय इतिहास के विषय में कुछ न जान पाते। चिरकाल से भारत भविष्यवादी रहा है। यहाँ के ऋषियों ने भूत को नापने या उसको चिरस्थायी रखने की कोई चेष्टा नहीं की। क्योंकि बीता काल उनके लिये विशेष महत्त्व का नहीं था। इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि पारलौकिक विषयों के चिंतन

में संलग्न होने के कारण, प्राचीन ऋषि-मुनि इतिहास से उदासीन रहते थे*। प्राचीन काल में इतिहास की महत्ता जानते हुए भी ऋषि मुनि भूत को भूलना चाहते थे। वे सर्वथा वर्तमानवादी थे।

किंतु उन्होंने इतिहास को स्थायी रखने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यदि उन्होंने हिरोडोटस या टैसिटस की तरह ऐतिहासिक राजवंशावलियों तथा घटनाओं को शृंखलाबद्ध रख छोड़ा होता, तो आज हमें भारत की अनेक विडम्बनाओं के लिये अँधेरे में व्यर्थ नहीं भटकता पड़ता।

अब सिंधु प्रांत की खुदाइयों तथा मनुष्यों के दृष्टिकोणों में परिवर्त्तन होने के कारण भारत का एक नवीन इतिहास बन गया है। अनेक भारतीय तथा वैदेशिक विद्वानों ने यह भी स्वीकार किया है कि सिंधु प्रांत की सभ्यता, सभ्यता तथा संस्कृति के जन्मदाता समझे जानेवाले देशों, मेसोपोटेमिया तथा मिस्र से अनेक दिशाओं में बढ़ चढ़कर थी।

इस सभ्यता को सम्प्रति हम सिंधु-सभ्यता कहेंगे; क्योंकि इसकी उत्पत्ति तथा विकास सिंधु नदी के तट पर ही हुआ था। संसार के इतिहास में नदियों ने कई सभ्यताओं को जन्म दिया है। एक युग था जब कि वीरान तथा ऊसर देशों को छोड़कर लोग

---

* इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते।—छान्दोग्य उपनिषद् ७, १, २,।

नदियों के तट पर बसते थे। यहाँ पर उर्वरा भूमि के कारण उनकी भोजन-समस्या सुलझ जाती थी। घास और पानी की सुविधाओं के कारण वे मवेशियों को भी पाल सकते थे। ऐसी सुविधाजनक परिस्थिति में रहकर, उनकी कल्पना जागृत हो उठी और परिणाम-स्वरूप उन्होंने अनेक ऐसी वस्तुओं तथा विचार-धारा का निर्माण किया जिनसे कि कालांतर में एक विशिष्ट सभ्यता बन गई। सिंधु, नील तथा फरात नदियों के तट पर इसी प्रकार से सभ्यताएँ उत्पन्न हुईं।

नदियों की इस सुंदर देन से प्रसन्न होकर ही ऋग्वेद के ऋषि-मुनियों ने भारत की नदियों के यश के सुंदर गान गाए—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि-स्तोमं सचता परुष्णया।
असिक्न्या मरुद्वधे-वितस्तयार्जीकीये श्रृणुह्या सुषोमया॥
(ऋ० १०, १५, ५)

सिंधु नदी के तट पर एक समय सिंधु प्रांत का एक अज्ञात नगर बसा था। आजकल इस स्थान के लिये 'मोहें जो दड़ो' कहते हैं, जिसका अर्थ सिंधी भाषा में 'मृतकों का स्थान' होता है। यह स्थान सिंधु प्रांत के लरकना नामक प्रदेश में स्थित है। यहाँ जाने के लिये एन० डबल्यू० आर० के डोक्री नामक स्टेशन पर उतर जाना पड़ता है। यहाँ से 'मोहें जो दड़ो' आठ मील की दूरी पर है।

मोहें जो दड़ो शब्द सिंधु-प्रांत में नवीन नहीं था। आपसी बातचीत में लोग प्रायः इसका वर्णन किया करते थे। आजकल तो भारत में प्राचीन स्थानों का महत्त्व बढ़ गया है। लोग प्राचीन वस्तुओं की खोज में प्राचीन टीलों का भ्रमण करते रहते हैं। किंतु कुछ वर्ष पहले इने गिने व्यक्तियों ही की दृष्टि प्राचीन खँडहरों की ओर जाती थी। मोहें जो दड़ो का दृश्य उस समय देखने में बड़ा विचित्र था। लगभग २६६ एकड़ भूमि पर असंख्य निष्प्राण एवं सैकड़ों पगों की ठोकरें खाकर भी जीवित रह सकनेवाली ईंटें तथा मिट्टी के बर्तन पड़े थे। एक समय तो इन ईंटों द्वारा बनी दीवारों ने संपन्न लोगों को आश्रय दिया होगा और मिट्टी के बर्तनों ने सैकड़ों लोगों की क्षुधा और पिपासा शांत की होगी। शताब्दियों तक इस नगर के भग्न रूप को देखनेवाले केवल वनचर, उलूक तथा कीड़े-मकोड़े रहे। इन टीलों के ऊपर अनेक नदी तथा नाले फूट पड़े थे। यह स्थान बड़ा भयानक तथा सुनसान दिखलाई देता था।

पुरातत्त्व विभाग के अफ़सरों ने कई बार इन टीलों का निरीक्षण किया किंतु सन् १९२२ ई० तक यहाँ पर कोई खुदाई का कार्य्य प्रारंभ नहीं किया जा सका। सन् १९२२ ई० में (अब स्वर्गीय) श्री राखालदास बनर्जी इस स्थान पर स्थित कुषाण-कालीन विहार तथा स्तूप के चारों ओर खुदाई कर रहे थे। इस बौद्ध विहार पर कई युगों की ईंटें लगी थीं। स्तूप से २० फीट की गहराई पर सबसे पहला प्राकार मूल था।

अचानक खुदाई में श्री बनर्जी को प्रागैतिहासिक युग की मुद्राएँ मिल गईं। ऐसी ही अनेक मुद्राएँ कई वर्ष पूर्व सर कनिंघम ने मोंटगोमेरी नामक प्रदेश में स्थित हड़प्पा गाँव से प्राप्त कर ली थीं। कनिंघम महोदय ने हड़प्पा के टीलों पर साधारण खुदाई भी की। उन्हें कुछ पत्थर के हथियार तथा एक मुद्रा भी मिली। इस मुद्रा पर कूबड़दार बैल का चित्र था। उस समय कनिंघम साहब की धारणा थी कि यह मुद्रा भारतीय नहीं किंतु वैदेशिक है*। श्री बनर्जी को शीघ्र ही इस स्थान की प्राचीनता का पता लग गया। उत्सुक होकर बनर्जी महोदय ने स्तूप की ओर का पूर्वी भाग तथा निकट के ही दो अन्य टीलों को खुदवाया। उनका अनुमान था कि नीचे की तहें स्तूप के निर्माण-काल से तीन चार सौ वर्ष प्राचीन हैं। प्रागैतिहासिक युग की नालियाँ तथा कमरे भी श्री बनर्जी ने खोदे। इन महत्त्वपूर्ण खुदाइयों के कारण भारतीय सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने विशद योजना से इस स्थान पर खुदाई प्रारंभ की। दस वर्षों के अंदर यहाँ पर जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनसे ही इस स्थान की महत्ता का पता चल गया है। बनर्जी महोदय के बाद सर जॉन मार्शल, डा० अर्नेस्ट मैके, श्री काशीनाथ दीक्षित तथा श्री (अब स्वर्गीय) दयाराम साहनी का कार्य्य विशेष महत्त्वपूर्ण रहा।

---

* कनिंघम—आरकियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १८७५, जिल्द ५, पृ० १०८।

उधर हड़प्पा में श्री दयाराम साह्नी तथा श्री माधवस्वरूप वत्स ने भी अनेक महत्त्व की खुदाइयाँ कीं। सिंधु-प्रांत की तीक्ष्ण जलवायु में इन अफसरों ने जिस त्याग एवं साधना से कार्य्य किया उसके लिये सारा संसार इनका चिर ऋणी रहेगा। आज मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में स्थानीय संग्रहालय भी स्थापित कर दिए गए हैं जहाँ पर पुरातत्त्वप्रेमी, नगर-शैली तथा अन्य बातों के साथ-साथ, यहाँ से प्राप्त वस्तुओं का भी अवलोकन कर सकते हैं।

जब मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में खुदाइयाँ हो रही थीं तो पुरातत्त्व के पंडितों ने यह अनुमान किया कि यह सभ्यता एक ही दो स्थानों तक सीमित नहीं रही होगी। सर्वप्रथम इस सभ्यता के अवशेष ढूँढ़ने के लिये सर औरियल स्टाइन तथा मि० हारग्रीव्ज ने बलूचिस्तान तथा गिड्रोशिया में भ्रमण किया और भाग्य-वशात् उन्हें अपने अपने परिश्रमों का उचित फल प्राप्त हुआ। इन पंडितों की खुदाइयों तथा खोजों से ज्ञात हुआ है कि सिंधु-सभ्यता भारतीय सीमा को लाँघकर बलूचिस्तान तथा गिड्रोशिया तक पहुँची थी।

श्री (अब स्वर्गीय) एन० जी० मजूमदार ने सिंधु प्रांत के विभिन्न स्थानों में दौरा किया। उन्होंने किरथर पहाड़ी के समानांतर बसे प्रागैतिहासिक स्थानों का निरीक्षण किया। उनके अनुसार हैदराबाद (सिंधु प्रांत) से लेकर जैकोबाबाद तक प्राचीन उपनिवेशों या नगरों की एक पंक्ति थी। १९३९ ई० में

श्री मजूमदार फिर सिंधु प्रांत के द्वितीय निरीक्षण के लिये नियुक्त हुए; किंतु खेद है कि उन्हें कुछ डाकुओं ने दादू नामक स्थान में मार डाला। उनकी मृत्यु से भारत का एक प्रगाढ़ पुरातत्त्व-पंडित खो गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अपने युग में हड़प्पा तथा मोहें जो दड़ो राजधानियाँ थीं। इस समय के देखने से तो यही विदित होता है कि हड़प्पा आकार में मोहें जो दड़ो से बड़ा है। एक बार उजड़ जाने पर संभवतः किसी भी प्रागैतिहासिक स्थान पर नगर नहीं बसाए गए। यहाँ तक कि कुछ के निकट तो बाद की वसाकत के चिह्न तक नहीं दीख पड़ते। केवल सैकड़ों वर्ष बाद बौद्ध धर्म के प्रचलन के साथ साथ मोहें जो दड़ो में एक बौद्ध स्तूप तथा विहार बना। मुद्राशास्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि यह विहार कुषाणवंशीय नरेश वासुदेव के काल से चल रहा था। ईसवी पाँचवीं या छठी शताब्दी तक के सिक्के यहाँ पर प्राप्त हुए हैं। संभवतः यह स्थान ईसवी १५० से ५०० तक जागृत रहा*।

गत कुछ वर्षों में भारत के कई प्राचीन नगर खोदे गए हैं, किंतु इनमें अधिकतर खंडित अवस्था में पाए गए हैं। संतोष का विषय है कि मोहें जो दड़ो के मकान तथा दीवारें भारत के

---

* मार्शल—मो० इं० सि० पृ० १२३।

अन्य दबे नगरों से बहुत सुरक्षित हैं। इसी कारण निस्संकोच यह बतलाया जा सकता है कि इस नगर की निर्माण-प्रणाली मिस्र तथा बेबीलोन से उच्चतर है*।

मोहें जो दड़ो में पाई गई वस्तुओं से पता चलता है कि यह नगर समृद्धिशाली था। इसका वास्तु तथा आरोग्य-रक्षण विभाग सभ्यता की किसी उच्च दशा में ही उत्पन्न हो सका होगा। जीवन की कतिपय सुविधाएँ भी लोगों को उपलब्ध थीं।

आज नहरों के जाल बिछाए जाने के कारण सिंधु प्रांत फिर से उपजाऊ बना दिया गया है। किंतु प्राचीन काल में यहाँ अप्राकृतिक साधनों से प्राप्त जल की आवश्यकता न थी। समय समय पर इस प्रांत के निवासियों को प्रचुर मात्रा में वृष्टि का जल उपलब्ध हो जाया करता था।

भौगोलिक दृष्टिकोण से भी कोई नगर वहीं पर बस सकता है जहाँ पर कि खेती, पशु-पालन तथा रहन-सहन की अन्य सुविधाएँ हों। चीन के गोबी, अफ्रिका के सहारा और राजपूताना के रेगिस्तानों में बसने की स्वप्न में भी मनुष्य चेष्टा नहीं करेगा। मनुष्य सदैव अनुकूल जलवायु के स्थानों को अपने निवास के लिये ढूँढ़ता है। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा के बसने से पहले

---

* प्रोग्रेस ऑव साइंस ड्यूरिंग दि पास्ट ट्वंटी फाइव इयर्स, पृ० २६१।

इन सभी बातों को देख लिया गया होगा। नालियों की प्रचुरता से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में सिंधु-प्रांत में जल की कमी न थी। नम जलवायु को पसंद करनेवाले पशु जैसे गैंडा तथा भैंस का चित्रण प्रायः मुद्राओं पर दीख पड़ता है। बाघ का कोई चित्रण न पट्टियों पर है और न मुद्राओं पर, क्योंकि बाघ सदैव सूखी हवा को पसंद करता है। पत्तियों, तथा वृक्षों के चित्रण से भी ज्ञात होता है कि वहाँ सुंदर हरे भरे वृक्ष थे। फिर मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा (निम्न तल) में पकाई हुई ईंटें ही प्रयुक्त हुई हैं। ऐसी ईंटों पर पानी अपना असर नहीं करता। पकाई हुई ईंटों में अधिक खर्च लगता है। और यदि सिंधु प्रांत निवासियों को वर्षा का भय न होता तो वे अवश्य सस्ती तथा कच्ची ईंटों को ही इमारतों में काम में लाते। फिर कच्ची ईंटें कमरों को ठंडा भी रख सकती थीं और इस बात को अवश्य सिंधु प्रांत निवासी जानते थे। किंतु उन दिनों वहाँ का जलवायु इतना गरम नहीं था, जितना कि आज कल है*।

मुसलमान तथा अरब इतिहासज्ञों के भ्रमण-वृत्तांतों में हम सिंधु प्रांत में वर्षा ऋतु और वर्षा होने का वर्णन पाते हैं। अमीर तैमूर के धावे (सन् १३९८ ई०) तथा आईने अकबरी की समाप्ति (सन् १५९५-९६ ई०) तक के २०० वर्षों में ही सिंधु

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २,३।

प्रांत की जलवायु में विशाल परिवर्त्तन हो चुके थे। १८९२ ई० में डेविड रौस ने लिखा था—सिंधु प्रांत में कभी वर्षा नहीं होती। कभी कभी तो लगातार यह देश जल-विहीन रहता है। वेस्टमैकोट ने लिखा है कि एक बार बीस वर्ष तक सिंधु-प्रांत में वर्षा नहीं हुई। इन भ्रमणकर्ताओं के वर्णनों से ज्ञात होता है कि सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी तक सिंधु प्रांत जल के लिये तरसने लगा था। आज सिंधु प्रांत का जलवायु विचित्र है। जाड़े में तो चुभती हुई ठंडी हवाएँ चलती हैं और ग्रीष्म ऋतु में भयंकर गर्मी पड़ती है। गर्मी के तापक्रम का औसत ९५ डिग्री और जाड़ों का ६० डिग्री है। किंतु ग्रीष्म ऋतु में तापक्रम कभी कभी ११४ से १२० डिग्री तक पहुँच जाता है*।

प्राचीन सिंधु-प्रांत की समृद्धि केवल वर्षा ऋतु पर ही नहीं, वरन् सिंधु नदी के जल पर भी अवलंबित थी। प्रति वर्ष बर्फ के गलने पर यह नदी मैदानों में पुलिनमय मिट्टी तथा जल पहुँचाती थी। इसकी लम्बाई घुमाओं के सहित इस समय लगभग ५८० मील है। किंतु जहाँ सिंधु नदी से इतने लाभ थे, वहाँ इससे हानियाँ भी कम नहीं थीं। लोगों को समय समय पर भयंकर बाढ़ों की आशंका रहती थी। उनको अपने जीवन तथा मकानों को सुरक्षित रखने के उपचार ढूँढ़ने पड़ते थे। वर्ष

---

* इंपीरियल गजेटियर ऑव इंडिया, १९०८, जि० २२, पृ० ३६३।

में कभी कभी सिंधु नदी में इतनी भयंकर बाढ़ें आती थीं कि इसके तट पर बसे लोगों को अपने प्राण बचाकर, रात्रि हो या दिवस, भागना पड़ता था। फिर सिंधु नदी इन नगरों को अपने आँचल में सदैव के लिये छिपा लेती थी। किंतु यहीं तक इन आतंकों की इतिश्री नहीं थी। यह नदी तो अपने पुलिन तक को बदल देती थी। फिर मनुष्य अपना सब कुछ खोकर जहाँ पर वे पानी के चश्मे या सोते देखते, बस जाते थे। पानी की नहरों से भी प्रायः काम चल जाया करता था। पोखरन गाजीशाह, डामबूथी, बंधनी नामक स्थान ऐसे ही जल की सुविधा के स्थानों में बसे थे। ये सभी स्थान सिंधु नदी से दूर बसे हैं*। सिंधु नदी के स्थायी पुलिन न होने का परिणाम यह भी हुआ कि इस प्रांत की कोई भी राजधानी अधिक समय तक नहीं रही। थोड़े वर्षों के अंतर्गत कई नगर इसके तट पर बसे और फिर नष्ट हुए†।

अरब इतिहासज्ञों ने लिखा है कि उनके काल में सिंध में सबसे बड़ी नदी 'मिहिरान' थी। 'इश्तखारी' में लिखा है कि सिंध की नदी (जिसे सिंध की मिहिरान कहते हैं) का उद्गम-स्थान एक पर्वत पर है जिससे कि जिहूँ की शाखाएँ निकलती हैं।

---

* आ० स० मे० नं० ४८, पृ० १४६।

† पिरिथवाला—ए ज्योग्रैफिकल ऐनेलेसिस ऑव दि लोअर इंडस बेसिन (सिंध), पृ० १२।

पर्वत से निकल कर मुल्तान के निकट होकर, मिहिरान वस-मिद और अलोर की सीमा को पार करती है और फिर मन-सूरिया होते हुए देवाल के पूर्व में गिरती है। सिंध रुद यहाँ से तीन दिन के रास्ते पर है। मिहिरान के साथ मिलने से पहले भी इसका पानी बड़ा मीठा है। इन इतिहासज्ञों ने तीन नदियों (१) सिंधु या आबे सिंध (२) विआह (व्यास) तथा (३) हक्रा वा हिंद या सिंध सागर का सुंदर वर्णन किया है। लगभग इन सब नदियों का पानी जमा होकर मिहिरान में जाता था। मुल्तान से आगे जाकर ये सब नदियाँ दोशे आव (आधुनिक साहिब) नामक स्थान पर मिलती थीं।* अरब विजय के समय सिंधु-प्रांत में सबसे बड़ी नदी हक्रा थी। इसकी दो शाखाओं में से एक पश्चिम की ओर अलोर के निकट होकर बहती थी। डेल्टा पर पहुँचकर एक तो सीधे समुद्र में तथा दूसरी कच्छ की खाड़ी में गिरती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि बार-बार पुलिन बदलने से हक्रा की शाखाएँ भी अलग-अलग हो गईं। हक्रा नदी स्वयं भूमि के अंदर कई स्थानों में लुप्त हो जाती थी। यह हक्रा शायद वेदों में वर्णित सरस्वती नदी है†। अमरकोष में वर्णित यह नदी इस प्रांत को उदीच्य तथा प्राच्य भागों में बाँटती थी।

---

* ज० ए० सो० बं० जिल्द ६१, पृ० २११-१२।

† मॉडर्न रिव्यू—अगस्त १६३२, पृ० १५४।

संभवतः चौदहवीं शताब्दी के मध्य में सिंधु नदी ने अचानक मिहिरान को छोड़ दिया। मेजर रेवर्टी इसका कारण भयंकर बाढ़ का आना बतलाते हैं*। इस समय दो नदियाँ समानांतर रूप में समुद्र में गिरती थीं।

अब यह देखना है कि सिंधु प्रांत के इतने ऐश्वर्य्यशाली स्थान कैसे अंधकार में विलीन हुए। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा को शायद कभी किसी बाहरी शत्रु ने बुरे ढंग से नहीं लूटा था। भारत के प्राचीन नगरों का नाश तो क्रूर या बर्बर जातियों ने, जिन्हें हिंदू धर्म और संस्कृति से घृणा थी, किया। किंतु सिंधु प्रांत के नगरों का नाश पोषण करनेवाली प्रकृति ने ही किया। एक ओर तो जलवायु में परिवर्त्तन हुए और दूसरी ओर बाढ़ों का आतंक रहा।

जलवायु-परिवर्त्तन के कई कारण बतलाए गए हैं। जलवायु-विशारदों का मत है कि हिम युग तथा उसके पूर्ववर्ती युग में उत्तर वेगानिल कटि आर्कटिक के दबाव से दक्षिण की ओर खिसक गई। इस धारणा के अनुसार सहारा, मिस्र, अरब, मेसोपोटेमिया, फारस, बलूचिस्तान तथा सिंधु प्रांत में एक बार सुंदर वर्षा होती थी।

सर जॉन मार्शल कहते हैं कि मौसमी हवाओं के रुख में परिवर्त्तन होना ही मोहें जो दड़ो के नष्ट होने का कारण

* ज० ए० सो० बं० जिल्द ६१, पृ० ३६१-६२।

है*। मौसमी हवाएँ बराबर अपना रुख बदलती जा रही हैं। आजकल की दो मौसमी हवाओं में दक्षिण पश्चिमी तो कच्छ में लखपत तक ही रुक जाती है; उत्तरी पूर्वी हवा कराची से आगे नहीं बढ़ती। सिंधु प्रांत में फिर स्वाभाविक वर्षा भी नहीं होती। वर्ष भर में कभी कभी ८ ही इंच की औसत में पानी बरसता है†। फिर जलवायु-विशारदों की गणनाएँ भी बतलाती हैं कि सिंधु प्रांत में दिनोंदिन कम वर्षा हो रही है। चौदहवीं शताब्दी में जो मुसलमान भारत में आए थे उन्होंने मुल्तान में वर्षा ऋतु का होना लिखा है। किंतु आज मुल्तान में नाम मात्र ही के लिये वर्षा होती है। प्राचीन काल में मुल्तान एक प्रसिद्धिप्राप्त स्थान था। अल मसूदी ने लिखा है कि मुल्तान की सीमा के अंदर १,२०,००० गाँव और रियासतें हैं। उस समय लोग मुल्तान को फराख या सोने का खजाना कहते थे। १३९८ ई० के लगभग मुल्तान में इतनी घोर वर्षा हुई थी कि अमीर तैमूर की सेना के सब घोड़े, जो उसके पुत्र के अधीन थे, बह गए थे। मनसूरिया के लिये भी कहा गया है कि यह एक अच्छा खेतिहर स्थान था।

अब हम नदियों के रुख का विवेचन करेंगे। सिंधु प्रांत की सभी नदियाँ प्रायः बर्फ से ढके पर्वतों से निकलती हैं।

---

* मार्शल--मो० इं० सि०, पृ० ३।

† इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, १९०८, पृ० ३९४।

वर्ष में कई बार विशेषकर ग्रीष्म ऋतु में, बर्फ के गलने पर, इन नदियों में बाढ़ आती है। ऋग्वेद तक में लिखा है कि एक बार रावी में भयंकर बाढ़ आई थी*। मोहें जो दड़ो की विभिन्न तहों से ज्ञात होता है कि यहाँ बाढ़ के दो प्रकोप हुए थे और दो ही बार यह नगर फिर से बसा था। यहाँ तक कि १९३९ ई० में मोहें जो दड़ो के कुछ टीलों तक बाढ़ आई थी। संभव है ऐसी ही कोई भयंकर बाढ़ मोहें जो दड़ो के अंतिम युग में भी आई हो जिसने सिंधु सभ्यता को सदैव के लिये छिन्न-भिन्न कर डाला। छोटी छोटी बाढ़ों के कारण तो लोग मकानों को थोड़े ही दिनों के लिये छोड़ते थे, किंतु बड़ी बाढ़ के आने पर उन्हें काफी समय तक बाहर रहना पड़ता था†। मकानों के लिये पीठिकाएँ भी इसी लिये बनती थीं। देहलियाँ भी सदैव सड़क की सतह से ऊँची होती थीं। नदियों के किनारों पर प्रायः मिट्टी जमा हो जाती थी। उस समय सिंधु नदी शायद धीमी गति से बहती थी, किंतु फिर भी आकस्मिक बाढ़ें आ ही जाती थीं। इधर-उधर मिट्टी तथा बालू भरती आ रही थी। तीस फीट की गहराई तक पकाई हुई ईंटें प्राप्त हुई हैं। ऐसे मिट्टी तथा बालू से भरे तटों पर नदियों के रुख में परिवर्त्तन होना स्वाभाविक ही है। केवल बर्फ के गलने पर ही बाढ़ें नहीं आती थीं। इस

---

* ऋ० ७, १८, ५।

† मैके—फ० य० मो० पृ० ८।

प्रांत में तो विचित्र वर्षा होती थी। इस कारण कई बंध टूट जाते थे और इस प्रकार धन जन की गहरी क्षति होती थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सिंधु प्रांत की नदियाँ बराबर अपना रुख बदलती आ रही हैं। प्राचीन नदियों के पुलिन मुल्तान के पश्चिम में अभी तक दृष्टिगोचर होते हैं। मुजफ्फरपुर जिले के बीच से होकर शायद एक बार सिंधु नदी बहती थी। बर्नेज सन् १८३४ ई० में आम्री आया था। एक स्थान पर उसने लिखा है कि आम्री बड़ा समृद्धिशाली नगर है। प्राचीन काल में यह नगर एक राजधानी था। सिंधु नदी के ही कारण इसका नाश हुआ। वर्टन सिंधु-प्रांत में सर्वे का एक अफसर था। नदियों के बारे में वह लिखता है—"सिंधु प्रांत मिट्टी का एक ढलुवाँ टुकड़ा है। इस भूमि पर सिंधु नदी इतनी जल्दी नए रास्ते बनाती है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ईंटों की जरा ऊँची दीवार को सिंधु नदी के पुलिन में खड़ी कर देने से नदी से एक नहर फूट पड़ती है। यह नदी एक विशाल राजधानी तथा बीस कस्बों को तुरंत नष्ट कर सकती है। हरे-भरे बगीचों को यह रेगिस्तान बना सकती तथा रेगिस्तानों को सुंदर उद्यान बना सकती है"*।

जब यवन लोग भारत में आए तो उन्होंने भी नदियों के बहाव में परिवर्त्तन पाया। एक बार आरिस्टोबोलस को अलेक-

* वर्टन—सिंदे, जिल्द १, पृ० २०२।

जेंडर ने एक कमीशन में भेजा। रास्ते में एक स्थान पर उसने एक हज़ार से ऊपर नगरों और गाँवों को उजाड़ देखा। इनके उजाड़ होने का कारण सिंधु नदी का पूर्व की ओर बहना था*।

इस समय सिंधु नदी मोहें जो दड़ो से ३½ मील की दूरी पर है। प्राचीन काल में यह शायद नगर के अति निकट बहती रही हो। लोहूम जो दड़ो, चन्हू दड़ो तथा मोहें जो दड़ो के मिट्टी के बर्तनों में बालू के कण मिले हुए हैं। इससे भी मालूम होता है कि ये स्थान नदियों के निकट थे। आज सिंधु नदी चन्हू दड़ो से १२ मील की दूरी पर है, किंतु यहाँ से ३ मील की दूरी पर अभी तक नदी का एक पुलिन दीख पड़ता है। इस नदी की शाखाएँ शायद बार बार चन्हू दड़ो पर धावा करती थीं। बाढ़ आने पर चन्हूदड़ो-निवासी लंबे अर्से के लिये अपने नगर को छोड़ देते थे। मोहें जो दड़ो में दूसरी बार के मकान पुरानी दीवारों पर ही रखे जाते थे, किंतु चन्हूदड़ो में ऐसा नहीं होता था। चन्हूदड़ो में लंबे अर्से तक मकानों के छूट जाने के कारण उन पर कूड़ा, मिट्टी आदि भर जाती थी। इस कारण नए मकानों की नींवें इसी कूड़े मिट्टी से बनी भूमि पर डाली गईं। प्राचीन दीवारें तो कहीं नीचे दब जाती थीं।

हड़प्पा का नाश भी रावी के पुलिन में परिवर्त्तन होने के कारण हुआ। इस समय रावी हड़प्पा से ६ मील उत्तर को

---

* स्ट्रैबो, १५ (सी) ६८९।

बहती है। आजकल जहाँ हड़प्पा स्थित है वहाँ की भूमि बिल्कुल उपजाऊ नहीं है। हड़प्पा के टीलों* के चारों ओर मूल पर पड़े ईंटों के बड़े बड़े ढेरों से ज्ञात होता है कि वे बाढ़ के लिये बंधों का काम देते थे। उधर चकपुरवाने स्याल नामक स्थान का नाश व्यास नदी के पुलिन में परिवर्त्तन होने के कारण हुआ।

मोहें जो दड़ो में बाढ़ के बार बार आतंक होते रहे। एक दो बार तो नगर-निवासी बाढ़ की समाप्ति पर लौट भी आए। आखिर वे अपनी विशाल संपत्ति से कैसे एकदम मुख मोड़ सकते थे। किंतु ऐसे आतंकों के बीच भी कब तक वे रह सकते थे। तंग आकर अंत में उन्होंने इस स्थान से सदैव के लिये बिदा ले ली। उजाड़ तथा दबे हुए मकानों के अंदर पानी के साथ बहकर आई हुई ईंटें तथा मिट्टी अब भी खुदाई करने पर दीखती हैं। इस मिट्टी की तहें दो फीट तक मोटी हैं और अनुमानतः यह मिट्टी एक वर्ष के अंदर भरी होगी†। अनेक प्रमाणों से विदित होता है कि सिंधु नदी अब पश्चिम की ओर बह रही है।

बाढ़, वर्षा तथा नदियों से ही इस प्रांत की क्षति नहीं हुई; भूकंपों ने भी इस प्रदेश के वासियों को तंग किया। तूफानी हवाओं

---

* आ० स० रि०, १९३५-३६, पृ० ४०।

† वही, १९२८-२९, पृ० ७२।

के भयंकर दौरे भी इस देश के इतिहास में कम नहीं हुए हैं। भूकंप के कई चिह्न तो सर औरियल स्टाईन को बलूचिस्तान में भी मिले हैं*। भूकंप से नदियों के पुलिन बदल जाते थे। सन् १९१९ ई० में कच्छ की खाड़ी में भूकंपों से बड़े परिवर्त्तन हुए थे। इसी प्रकार सिंधु-प्रांत में कभी कभी असाधारण वर्षा भी हो जाया करती है। सन् १९०२ ई० में कराची में २४ घंटे के अंदर १२ इंच पानी बरसा।

प्रकृति ने ही सिंधु प्रांत-निवासियों के शांतिमय जीवन में बार बार उथल-पुथल मचाई। खेती के नष्ट होने की भी बार बार आशंका होती थी। जलवायु में भी परिवर्त्तन हो गए थे, सिंधु नदी के डेल्टे में मिट्टी भरती जा रही थी। अच्छे अच्छे बंदर-गाह जमीन के अंदर ढकेले जा रहे थे। इन कारणों से उन्होंने धीरे धीरे नगर को छोड़ना प्रारंभ किया। आतंक या भगदड़ के कोई चिह्न मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में नहीं मिलते हैं।

एक दिन सूर्य्य, चंद्र, आकाश की तारिकाओं तथा आकाशगामी पक्षियों ने अचानक देखा होगा—मोहें जो दड़ो सुनसान पड़ा है। जिन राजपथों पर ठठाके की हँसी, गर्म गर्म बातें, वाद-विवाद तथा आपसी भेंटें हुआ करती थीं वहाँ केवल सायँ सायँ करती हवाएँ करुण राग गा रही हैं। जगत् में सहस्रों आकांक्षाओं तथा कार्य्यों का कदाचित् ऐसा ही अंत हुआ करता है।

---

* आ० स० मे० न० ४०, पृ० ३३, १३२, १८६।

अनेक विद्वानों की धारणा है कि मोहें जो दड़ो निवासी किसी दूसरे प्रांत में चल दिए थे। और यह बहुत संभव है कि ये लोग दक्षिण भारत के पश्चिमी तट पर जाकर बसे हों। मोहें जो दड़ो के बाद के नक्काशीदार काली मिट्टी के बर्तनों की तरह के बर्तन दक्षिण भारत के लौहकालीन स्थानों, विशेष कर बंगलोर के निकट हट्टनहाली नामक स्थान में प्राप्त हुए हैं*। किंतु अभी निश्चित धारणाएँ निर्धारित करने के लिये कुछ और समय तक रुकना होगा।

इस प्रकार इस सभ्यता के केंद्रीय नगर अंधकार में विलीन हुए। ५००० वर्षों के अंदर संसार भी सिंधु सभ्यता को भूलता गया। जीवन के एक कठोर अभिनय की समाप्ति को भी संसार शीघ्रता के साथ भूल जाता है। और ठीक यही बात सिंधु सभ्यता के साथ भी घटित हुई। भूत को लोग शीघ्र भूल गए। अब नए संसार, नई सभ्यताएँ, नए आदर्श आए। उन्हीं पर लोग दृष्टिपात करने लगे।

१८४३ ई० में पोस्टेंज ने लिखा था—"इस प्रांत का भूगोल विचित्र है। कभी औद्योगिक केंद्र का दावा रखनेवाले नगर आज व्यापार के लिये अनुपयुक्त हो गए हैं। अन्य सुविधाएँ भी जाती रही हैं। व्यापार के प्रमुख बंदरगाह भी नष्ट हो गए हैं। जहाँ पहले हरे भरे खेत थे, वहाँ आज रेगिस्तान

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ५८।

हैं। आरामतलब सिंधु-प्रांत निवासी नदियों के तट पर रहना पसंद करते हैं और फलतः बाढ़ से गाँव के गाँव बह जाते हैं। सुनसान रात्रि में सिंधु नदी के किनारे की भूमि के गिरने से ऐसा शब्द होता है मानों कहीं दूर कोई आग्नेयास्त्रों का प्रयोग कर रहा हो*"।

---

* पोस्टेंज—पर्सनल ऑब्जरवेशन्स ऑन सिंध, पृ० १८।

द्वितीय अध्याय

सिंधु प्रांत-निवासी तथा नगर काल

मोहें जो दड़ो की सभ्यता को नवीन-प्रस्तर-ताम्रयुग की सभ्यता के अंतर्गत रक्खा गया है। इस युग में पत्थर के बने हथियारों के साथ साथ पीतल तथा ताम्र की वस्तुओं का प्रयोग होता था। किंतु मोहें जो दड़ो की सभ्यता में कई विशेषताएँ भी थीं। नवीन प्रस्तर-ताम्रयुग की अन्य सभ्यताएँ सूती कपड़े तथा कपास से विज्ञ नहीं थीं। फिर उन सभ्यताओं के भवन भी इतने सुंदर ढंग से निर्मित न थे जितने मोहें जो दड़ो में।

इस नगर की समृद्धि किस काल में थी और कौन यहाँ के निवासी थे, इस विषय पर समय समय पर अनेक विद्वान् लिखते रहे हैं। वास्तव में सारी समस्या की सुलझावट सिंधु-लिपि के पढ़े जाने पर अवलंबित है। कतिपय विद्वानों ने इसे पढ़ने का प्रयत्न किया भी है, किंतु वे अपने प्रयत्न में असफल से रहे हैं। वास्तव में मोहें जो दड़ो की यह सभ्यता सिंधु प्रांत तक ही सीमित न थी। सर जॉन मार्शल के मतानुसार इस सभ्यता का प्रभाव गंगा, यमुना, नर्मदा तथा ताप्ती की घाटी तक पहुँचा था। हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो की खुदाइयों से ज्ञात होता है कि पंजाब में

इस सभ्यता का दृढ़ प्रभाव था। उत्तर पूर्व में इस सभ्यता के अवशेष रूपड़ तक मिले हैं*। डेराजाट, बन्नू तथा झोब की ओर भी यह सभ्यता फैली थी। इधर गंगा की घाटी (बक्सर) में भी प्रस्तर-ताम्रयुग की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। श्री माधवस्वरूप वत्स ने काठियावाड़ की लिंब्डी स्टेट में भी सिंधु आदर्श की अनेक वस्तुएँ प्राप्त की थीं †।

पश्चिम में नाल (कलात स्टेट) तथा बलूचिस्तान के पूर्वी भाग में भी सिंधु सभ्यता का प्रभाव फैला था। उस समय बलूचिस्तान अधिक सभ्य नहीं था और इसलिये वह और सुसंस्कृत देशों की सभ्यताओं से ज्ञान तथा प्रकाश पाता था। पश्चिमी बलूचिस्तान, फारस से प्रेरणा लेता था।

मोहें जो दड़ो में इमारतों की सात तहें निकली हैं। इन इमारतों की दीवारें, केवल सबसे ऊपर वाली को छोड़कर, प्राय: एक ही ढंग की हैं। बर्तन, मुद्राएँ आदि में भी कोई परिवर्त्तन नहीं दीख पड़ता। इस कारण यह कहा जा सकता है कि मोहें जो दड़ो में बाढ़ के आतंक जल्दी जल्दी होते रहे। यदि बाढ़ के बीच का समय अधिक होता तो इन वस्तुओं में भी कालानुसार परिवर्त्तन हो जाते। सर जॉन मार्शल मोहें जो दड़ो नगर की आयु कुल ५०० वर्ष मानते हैं। यह अस्वा-

---

* ऐ० वि० इं० आ० १९३५, पृ० १।

† आ० स० रि० १९२९-३०, पृ० १३२।

भाविक नहीं जान पड़ता जब कि हम देखते हैं कि तक्षशिला के कई नगर ३०० वर्ष के अंदर ऊपर उठे और गिरे। मि० मैके ने मोहें जो दड़ो नगर के काल को पहले निम्नलिखित भागों में बाँटा था :—

१—प्रारंभिक युग (ई० पू० ३२५०)
२—मध्य " (" ३०००)
३—अंतिम " (" २७५०)

डा० फ्रैंकफोर्ट को जो मुद्राएँ टेल आज्मर में मिली हैं वे सिंधु सभ्यता की समकालीन हैं। टेल आज्मर में प्राप्त एक मुद्रा तो निस्संदेह भारतीय है। इसमें अंकित पशु, हाथी, घोड़ा, घड़ियाल, मछली, नीलगाय, आदि आदि पशु सुमेर तथा अक्केडियन मुद्राओं में कभी चित्रित नहीं किए गए। यह भारतीय आदर्श की मुद्रा जिस तह पर पाई गई है, उस तह की अन्य वस्तुएँ अकड राज्य (ई० पू० २५००) के लगभग की है। इस नई प्राप्ति के आधार पर मि० मैके अब कहते हैं कि मोहें जो दड़ो का अंतिम युग ई० पू० २५०० के लगभग था*। फिर सर लियो-नार्ड वुल्ली को उर की सबसे नीची सतह पर सिंधु लिपि की एक मुद्रा प्राप्त हुई। किश की अनेक कब्रों में भारतीय आदर्श की कार्नेलियन गुरियाँ मिली हैं। उर की नीची सतह की आयु ई० पू० २७५० मानी गई है। इसके अतिरिक्त मोहें जो

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ७।

दड़ो में नीले मुलायम पत्थर का टुकड़ा प्राप्त हुआ है। इस पर चटाई के रेशों के सदृश जो अलंकरण है वह टेल आज्मर, सूसा तथा किश में प्राप्त बर्त्तनों पर भी मिलता है। इसमें संदेह नहीं कि मोहें जो दड़ो में यह पत्थर का टुकड़ा बाहर से आया है। टेल आज्मर के बर्त्तनों की आयु ई० पू० २८०० से ई० पू० २५०० और किश की ई० पू० २८०० के लगभग की हैं। सूसा के बर्त्तनों की आयु विवादग्रस्त है। किंतु संभवतः ये भी ई० पू० २७०० के निकट के होंगे। यदि इसी सन् को हम मोहें जो दड़ो का प्रारंभिक युग मानें तो फिर मोहें जो दड़ो नगर की आयु कुल ३०० वर्ष ही ठहरती है।

सर जॉन मार्शल ने अपनी बृहत् पुस्तक में आर्य्य तथा मोहें जो दड़ो निवासियों की संस्कृति तथा सभ्यता में उचित भिन्नता दिखलाई है। हमें तो सर मार्शल की धारणा कि आर्य भारत में ई० पू० १५०० में आए, सारहीन मालूम होती है। उनसे पहले के कतिपय श्रेष्ठ विद्वान् आर्यों के आगमन-काल को कभी इतने निकट नहीं लाए। श्री लोकमान्य तिलक ने वेद-युग का प्रारंभ ई० पू० ६००० से माना था। डा० विंटरनिट्ज का मत है कि वेद का प्रारंभ ई० पू० २००० वर्ष या ई० पू० २५०० वर्ष के लगभग हुआ और इसकी समाप्ति ई० पू० ७५० या ५०० के लगभग हुई*। डा० बूहलर के मतानुसार वेद

* विंटरनिट्ज—ए हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द १, पृ० ३१०।

का युग ई० पू० २००० वर्ष के पहले प्रारंभ हो गया था* । अन्य विद्वानों की धारणाओं पर भी विचार कर यह कहा जा सकता है कि वेद के युग का प्रारंभ भारत में ई० पू० २५०० के लगभग हो गया था† ।

यदि यही समय हम आर्यों के भारत-आगमन का मान लें तो आर्यों ने मोहें जो दड़ो सभ्यता को पूर्ण यश और ऐश्वर्य में देखा होगा । हड़प्पा तो शायद मोहें जो दड़ो के नष्ट होने के कई सौ वर्ष बाद तक भी रहा होगा । इस बात की पुष्टि हड़प्पा के एक शव-स्थान से होती है । इस शव-स्थान को श्री वत्स मोहें जो दड़ो की सभ्यता के बाद का बतलाते हैं । इस शव-स्थान पर प्राप्त मिट्टी के बर्तन बड़ी असावधानी से बनाए गए हैं । उस समय सिंधु सभ्यता अवनति की ओर चली जा रही थी और लोग सस्ते से सस्ते बर्तन बनाना चाहते थे । यह शव-स्थान भी विचित्र है और इसमें प्राप्त खोपड़ियाँ भी बाहरी जाति के लोगों की हैं‡ ।

सर जॉन मार्शल कहते हैं कि मोहें जो दड़ो सभ्यता आर्य सभ्यता से भिन्न थी। वे कहते हैंकि "आर्य लोगों को शहरों का ज्ञान न था । वे खेतिहर लोग थे । वे शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे,

---

* इंडियन एंटिक्वेरी, १८९४, पृ० २४५ ।

† इं० हि० क्वी०, मार्च १९३१, पृ० १५२ ।

‡ वत्स—य० ह०, पृ० २३४-३५ ।

उन्हें मछली से घृणा थी तथा वे गाय के उपासक थे।" एक लेख में डा० नरेंद्रनाथ लॉ ने मार्शल की धारणा का खंडन किया है*। डा० लॉ कहते हैं कि मार्शल का कहना कि वैदिक आर्यों को शहरों का ज्ञान न था, युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। वैदिक आर्य सचमुच नगरों से परिचित थे। ऋग्वेद में वर्णित 'पुर' नगर को ही सूचित करते हैं। डा० कीथ का कहना कि 'पुर' का अर्थ मिट्टी, लकड़ी तथा पत्थरों का किला है, उचित नहीं है। ऋग्वेद में किले के लिये 'दुर्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है†। एक स्थल पर तो दुर्ग तथा पुर शब्द साथ साथ प्रयुक्त हुए हैं‡। अन्य बातों में डा० लॉ की धारणाएँ हमें मान्य नहीं हैं। वास्तव में 'मान लेने' से ही इतिहास में किसी घटना की सत्यता प्रमाणित नहीं होती।

सर जॉन मार्शल की यह धारणा स्पष्ट नहीं है कि मातृदेवी वैदिक युग में गौण रूप में थी। ऋग्वेद में अदिति, पृथ्वी आदि आदि शब्द मातृदेवी को ही सूचित करते हैं। मोहें जो दड़ो में मातृदेवी के अनेक खिलौने प्राप्त हुए हैं किंतु उनसे मातृदेवी का देवताओं के बीच प्रधान स्थान किसी भाँति सिद्ध नहीं होता। हाँ, यह मानने के लिये हम तैयार हैं कि मोहें जो दड़ो में मातृदेवी की पूजा का अधिक प्रचलन था।

---

* इं० हि० क्वा०, मार्च १९३२, पृ० १२१-१६४।

† ऋग्वेद, ५, ३४, ७।

‡ आ० स० मे०, नं० ३१, पृ० ४।

इस विवाद को एक ओर रखकर यह कहा जा सकता है कि मोहें जो दड़ो की सभ्यता वास्तव में अनार्य सभ्यता थी। गाय आर्य लोगों की संपत्ति थी, किंतु सिंधु प्रांत की किसी भी मुद्रा पर इसका चित्रण नहीं है। उसी प्रकार घोड़े का भी सिंधु प्रांत में अभाव है जिसने कि अश्वमेध यज्ञ के कारण इतनी ख्याति प्राप्त की थी। यदि इस पशु की कुछ हड्डियाँ प्राप्त भी हुई हैं तो वे बहुत ही कम हैं। फिर आर्य लोग खेतिहर थे किंतु मोहें जो दड़ो निवासी व्यापारी थे।

ऋग्वेद के मंत्रों से उस काल की राजनैतिक परिस्थिति पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। हम केवल इसमें १० राजाओं के साथ सुदास के युद्ध का वर्णन पाते हैं। यह युद्ध बाद को ब्रह्मावर्त में रहनेवाले भारत तथा उत्तर पश्चिम भाग से आनेवाले लोगों के बीच हुआ था। सुदास भारत लोगों का ही राजा था। इसी लड़ाई के संबंध में कुछ जातियों के नाम भी आए हैं। सुदास ने परुष्णी (रावी) के तट पर १० राजाओं की सम्मिलित सेना को हराया था—

दश राजानः समिता अयज्यवः
सुदासमिंद्रा वरुणन युयुधः

(ऋ० ७, ८८)

ऋग्वेद में असुर जाति का भी यत्र तत्र वर्णन है। प्राग् द्रविड़ काल की असुर नामक जाति अभी तक राँची के जंगलों में पाई जाती है। मुंडा परंपराओं में भी असुर नाम वर्त्तमान

है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि कालांतर में ये लोग भारत के पूर्वी प्रांतों में बस गए थे, किंतु इनका केंद्र सिंधु नदी के मुहाने पर ही रहा।

ऋग्वेद में दास या दस्यु तथा आर्यों के बीच युद्ध का उल्लेख है। दास या दस्यु कहीं पर तो आकाशी जीव तथा कहीं पर साधारण मनुष्य माने गए हैं। आर्यों तथा दस्यु लोगों के बीच इसलिये युद्ध होता था कि दस्यु आर्यों के देवी-देवताओं को कोई महत्त्व नहीं देते थे और न उनकी अन्य पूजा-संबंधी प्रणालियों को ही मानते थे। ये कृष्ण वर्ण के लोग थे। आर्यों ने इन पर विजय प्राप्त की थी*।

श्री दत्त के अनुसार दस्यु लोग द्रविड़ वर्ग के थे; क्योंकि द्रविड़ लोगों का रंग काला था तथा नाक चिपटी थी। द्रविड़ लोग किसी समय पंजाब में रहते रहे होंगे। इसका प्रमाण बलूचिस्तान की ब्राहुई जाति से भी मिलता है†।

इसी प्रकार पणि लोग भी आर्यों से युद्ध करते थे। यास्काचार्य के अनुसार पणि लोग व्यापारी थे‡। ये लोग भी ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा नहीं देते थे और न वैदिक हवनों तथा यज्ञों की महत्ता को ही स्वीकार करते थे।

---

* कै० हि० इं०, जिल्द १, पृ० ८४-८५।

† दत्त—दि आर्यनाईजेशन ऑव इंडिया, पृ० ७७।

‡ यास्काचार्य—निरुक्त, ६, २७।

श्री रामप्रसाद चंदा के मतानुसार आर्यों ने पाणि लोगों पर धावा किया था। ये पाणि लोग ही सिंधु प्रांत के मूल निवासी थे। मोहें जो दड़ो तथा सिंधु सभ्यता एक व्यापारी सभ्यता थी। आर्यों के द्वारा ही यह सभ्यता नष्ट हुई थी* ।

समय समय पर हम देखेंगे कि सुमेर तथा भारतवासियों में अनेक समानताएँ थीं। वूली महोदय के मतानुसार सिंधु तथा सुमेर सभ्यताएँ एक ही मूल से निकली हैं। यह मूल संभवतः फरात तथा सिंधु नदी के बीच में कहीं पर था† । डा० हॉल की धारणा है कि सुमेर तथा द्रविड़ जातियाँ एक ही थीं। उनका कहना है कि सुमेर-निवासी भारत ही से बाहर गए थे। इसके प्रमाण वे बलूचिस्तान के 'ब्राहुई' लोगों से देते हैं। डा० हॉल यह भी कहते हैं कि बाहर फैलने में ये लोग इलम आदि आदि स्थानों में मुद्राएँ छोड़ते गए‡। सुमेरु लोग अवश्य व्यापारी थे। खाफेजी के किले तथा असूर के ईश्तर-मंदिर में सुमेर आदर्श की सैकड़ों वस्तुएँ मिली हैं। यहाँ पर शायद सुमेरु लोगों का एक उपनिवेश था। सिंधु प्रांत तथा सुमेर के निवासियों की कतिपय बातों में समानता देखकर तो

---

* आ० स० मे०, नं० ३१, पृ० ५।

† वूली—दि सुमेरियन्स, पृ० ६।

‡ हौल—एंशेंट हिस्ट्री ऑव दि नियर ईस्ट, पृ० १७३-७४।

हम मि० चाईल्ड के साथ स्वीकार करते हैं कि सिंधु-प्रांत तथा सुमेरु लोगों का अवश्य जातिगत संबंध था* ।

अब हम नरवंश विद्या के आधार पर यहाँ के निवासियों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे । अब तक मोहें जो दड़ो और हड़प्पा में लगभग २४ खोपड़ियाँ मिली हैं । इनमें चार जाति के लोग हैं :—

(१) काकेशिया या आस्ट्रिया निवासी ।

(२) भूमध्यसागर तटवर्ती निवासी ।

(३) मंगोलिया या आरमीनिया निवासी ।

(४) आल्पस जाति के लोग ।

डा० बी० एस० गुह इनके विषय में लिखते हैं—"प्रस्तर ताम्र युग में सिंधु नदी की घाटी में छोटे कद, लंबे सिर, पतली तथा ऊँची नाक और लंबे चेहरे के लोग रहते थे, किंतु ये बलवान् नहीं थे । इसके अतिरिक्त लंबे चेहरेवाली एक और जाति थी । इस जाति के लोग कद में अधिक लंबे थे ।...... तीसरी जाति के लोगों के सिर चौड़े होते थे । उनकी नाक पैनी होती थी । इनके सिर का पृष्ठभाग कभी गोल और कभी चिपटा रहता था । ये तीनों जातियाँ अल उवेद तथा किश में भी रहती थीं । इससे जान पड़ता है कि प्रस्तर ताम्र युग

---

* चाईल्ड—दि मोस्ट एंशेंट ईस्ट, पृ० २११ ।

में मेसोपोटेमिया (प्रीसारगोनिद युग) तथा सिंधु प्रांत का जातिगत संबंध था*...”।

सिंधु प्रांत में बाहर से आने के अनेक रास्ते थे। यहाँ पर अवश्य बाहरी जातियाँ आकर बसी होंगी। हड़प्पा में तो अवश्य ही कुछ जातियाँ बाहर से आकर बसी थीं। मोहें जो दड़ो की आयु सर जान मार्शल ५०० वर्ष तथा मि० मैके ३०० वर्ष मानते हैं। किंतु यह सभ्यता हमारे सम्मुख परिपक्व रूप में आती है। इसका जन्म तो न जाने किस युग में हो गया था। सर जॉन मार्शल की धारणा है कि मोहें जो दड़ो में कोई विशेष जाति नहीं रहती थी। भिन्न भिन्न जातियों के लोगों ने बाहर से यहाँ आकर अपनी-अपनी रीति तथा रस्मों का प्रचार किया होगा†। अनेक मिश्रित तत्त्वों के समन्वय से फिर यह सभ्यता बनी होगी। संभवतः आर्यों से पहले ही यहाँ भारतीय सुमेरु, द्रविड़, प्रागद्रविड़ तथा मंगोलियन संस्कृतियों ने एक सार्वजनिक सभ्यता का निर्माण किया था‡। किंतु बाहरी तत्त्वों के होते हुए भी सिंधु सभ्यता का विशिष्ट

---

* ऐन आउटलाइन ऑव फील्ड साईनसेज इन इंडिया, पृ० १२७।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० १०६।

‡ रंगाचार्य—हिस्ट्री ऑव दि प्री-मुसलमान इंडिया, जिल्द १, पृ० १६३।

व्यक्तित्व था। संभवतः बाहर से आई हुई जातियों ने शताब्दियों तक, सिंधु-प्रांत में निवास करने के पश्चात् भारतीय तत्त्वों को मिलाकर एक उच्च संस्कृति की सृष्टि की थी। कराची, कलकत्ता तथा बंबई की तरह मोहें जो दड़ो भी एक व्यापारिक केंद्र था। पश्चिमी तट तथा दक्षिण भारत के साथ संबंध होने के कारण यहाँ की सभ्यता में "आस्ट्रिया एशिया" तत्त्व आया। मंगोलियन लोग शायद उत्तर-पूर्व से तथा चौड़े माथेवाली जाति मध्य एशिया की पहाड़ियों से सिंधु-प्रांत में आई रही होगी*।

---

* दीक्षित—प्रो० सि० इं० वे०, पृ० ३६।

तृतीय अध्याय

(१) रीति रस्म तथा जीवन

सिंधु प्रांत में किसी समय अच्छी वर्षा होती थी। किसी नगर का सुखी जीवन बहुत कुछ प्राकृतिक सुविधाओं पर ही निर्भर रहता है। लोगों की सबसे बड़ी आवश्यकताएँ हैं उर्वरा भूमि तथा जल। मोहें जो दड़ो की खुदाई में गेहूँ तथा जौ मिले हैं। इस गेहूँ तथा जौ के दाने खूब बड़े बड़े होते थे। गेहूँ तो उसी जाति के थे जैसे आज-कल भी पंजाब में उगाए जाते हैं किंतु उस तत्त्व और आकार का जौ पंजाब में आजकल नहीं दीख पड़ता। चावल का भी प्रयोग होता रहा होगा। और यह उसी आकार का रहा होगा जिस आकार के चावल आजकल भी लरकना जिले में उगाए जाते हैं। हड़प्पा के लोग फलियाँ, खजूर, तिल तथा तरबूज से भी परचित थे। खजूर के बीज हड़प्पा में नहीं मिले हैं किंतु इन बीजों का चित्रण यहाँ के मिट्टी के बर्तनों पर दीख पड़ता है। लंबे नींबू की आकृति का एक झुमका मिला है जिससे अनुमान किया जाता है कि वहाँ के निवासी लंबे नींबू को भी जानते थे*। इसी प्रकार भिन्न

---

* वत्स—य० ह० पृ० ४६८।

भिन्न रंगों से सुसज्जित एक मिट्टी के बर्तन पर नारियल तथा अनार जैसा चित्रण है।

पशुओं के दूध और घी से लोग परिचित थे। हरी तरकारी और शाक भाजी का भी लोगों को शौक था। सुंदर मिठाई या रोटी बनाने के ढाँचे खुदाई में मिले हैं। अनाज कूटने के लिये ओखलियाँ तथा गेहूँ आदि पीसने की पट्टियाँ भी प्राप्त हुई हैं। अनाज रखने के लिये गुदामघरों में बड़े बड़े घड़े रक्खे जाते थे। ये घड़े खंडित अवस्था में पाए गए हैं। जिन घड़ों की ऊँचाई चौड़ाई से कम थी उनके मुँह चौड़े होते तथा जो घड़े लंबे होते उनका मुँह कम चौड़ा होता था। इन घड़ों का तला समतल नहीं होता था, और ये किसी आधार पर टिकाए जाते थे। आधार लकड़ी या पत्थर के बनते रहे होंगे। कुछ छोटे घड़ों के गलों पर छिद्र से हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन छिद्रों में रस्सी डालकर ये लटकाए जाते रहे होंगे या इनके ऊपर ढकने बाँधे जाते रहे होंगे। अनेक घड़ों पर सुंदर फिसलनेवाली पालिश है। इस फिसलनेवाली पालिश पर शायद चूहे नहीं चढ़ सकते थे। गरीब लोग साधारण लिपे हुए गड्ढों में ही अनाज रखते थे*। कुछ प्राप्त खोपड़ियों के दाँत घिसे तथा टूटे मालूम होते हैं। संभवतः पिसाई करते समय आटे में पत्थर के कण आदि मिल

---

* मैके— इं० सि० पृ० १५६।

जाते थे। रोटियाँ खाते समय ये कण दाँतों को हानि पहुँचाते रहे होंगे*।

गाय, शूकर, घड़ियाल, कछुवे, पंडूक, भेड़ और मछली का मांस मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा निवासियों के भोजन का मुख्य अंग था। घोंघे के अंदर के भाग को भी लोग खाते थे। उनके लिये ताजी तथा सूखी मछली उपलब्ध थी। ताजी मछली तो सीधे सिंधु नदी से तथा सूखी मछली समुद्र से आती रही होगी। मांस काटने के लिये चकमक पत्थर के औजार बनाए गए थे।

ऋग्वेद-काल से लेकर आज तक भारत में पशु-मांस भोजन का किसी न किसी रूप में अंग रहा है। वैदिक युग के हवनों में तो देवी देवताओं को अनेक प्रकार का मांस भेंट किया जाता था। महाकाव्य काल में भी लोग मांस भक्षण करते थे। महाभारत में एक स्थान पर एक मांसविक्रेता लोगों से कहता है कि वह केवल मांस को बेचता है, पशुओं की हत्या और लोग करते हैं†। किंतु विशद मांस के भोजन का अंत बौद्ध धर्म स्थापन के साथ ही हो गया था। उधर गीता के प्रसिद्ध श्लोक "अहिंसा परमो धर्मः" का भी जनता पर प्रभाव पड़ा। गुप्त काल में फाहियान लिखता है कि जनसमाज में कोई हिंसा नहीं करता

* मैके—फ० य० मो० पृ० ४९।

† महाभारत, ३, २०७, १० फु० ।

था। केवल चांडाल ही शिकार खेलते तथा मांस विक्रय करते थे*। सिंधु प्रांत में मनच्छर सरोवर के निकट एक वर्ग के ऐसे लोग रहते थे, जिनका भोजन केवल सरोवर के पशु-पक्षी थे। इस सरोवर के निकट उपजाऊ भूमि नहीं है। इस कारण इधर बसे लोग प्रधानतया मांसाहारी ही थे। यहाँ पर लोगों की बस्ती सिंधु-सभ्यता के अंतिम भाग में रही होगी †।

नागरिक जीवन की उच्च सीढ़ी पर पहुँचकर यह स्वाभाविक था कि वहाँ के लोग दावत आदि का समय समय पर प्रबंध करते। इस नगर में दावतों के कई उपयुक्त अवसर आया करते रहे होंगे। त्योहार तथा विवाहादि के अवसरों पर हितैषी, मित्र और संबंधी आमंत्रित किए जाते रहे होंगे। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में प्याले, थाली, चम्मच आदि बड़ी संख्या में मिले हैं। मिट्टी के आधार पर स्थित तश्तरियाँ भी मिली हैं। इन तश्तरियों पर दावतों में फल रखे जाते होंगे। घोंघे के बड़े बड़े आकार के चम्मच भी मिले हैं। ये चम्मच हवनों या दावतों में दाल वगैरह देने के काम आते थे। कुछ प्याले रखने की बड़ी तश्तरियाँ भी खुदाई में मिली हैं। इनके कई भाग किए गए हैं। मि० मैके का अनुमान है कि इनमें नाना प्रकार की दाल रक्खी जाती थीं। भारत में आजकल भी ऐसी

* फाहियान—यात्रा-वृत्तांत, पृ० ३१।

† आ० स० मे०, नं० ४८, पृ० ६५।

थालियाँ होती हैं जिन पर शाक, भाजी तथा दाल के लिये कटोरियाँ जुड़ी होती हैं। कुछ छोटे वर्त्तुलाकार, छिद्रवाले बर्तनों से मालूम होता है कि वे हाथ धुलाने के बर्तन थे। घोंघे की तश्तरियाँ मिट्टी की तश्तरियों से कहीं अधिक हैं। ताँबे और पीतल के बर्तनों का प्रयोग भी होता था। गरीब लोग भूमि पर बैठकर और धनी लोग चौकियों पर बैठकर भोजन करते रहे होंगे।

पशु-पंजरों से ज्ञात होता है कि वहाँ के लोग पशु-पालन के भी शौकीन थे। सिंधु प्रांत में बहुत पहले से पशुओं को पाला जाता था। कहा जाता है कि इस प्रांत से बाहरी देशों तक को पशु भेजे जाते थे। कूबड़दार बैल की उत्पत्ति तो निस्संदेह सिंधु प्रांत में हुई है और यहीं से इस नस्ल के बैल भारत के अन्य भागों में भी गए थे*। अब तक बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ता तथा ऊँट के पंजर मोहें जो दड़ो में मिले हैं। जंगली पशुओं में काली बिल्ली, हिरन, नील गाय, बंदर, भालू तथा खरगोश की हड्डियाँ मुख्य हैं। कुत्ते का चित्रण तो हम मुद्राओं पर प्रायः देखते हैं। कुछ ईंटों पर भी कुत्ते के पंजों के चिह्न हैं। आज दिन भी कुत्ता मनुष्य का परम भक्त और संगी माना जाता है। हड्डियों से ज्ञात हुआ है कि सिंधु प्रांत में

---

* इस विषय पर डा० वेणीप्रसाद का लेख जो कलकत्ता रिव्यू जनवरी १९३५ के अंक में प्रकाशित है, विशेष पठनीय है।

दो जाति के कुत्ते थे। एक तो उसी जाति का था जिस जाति के साधारण कुत्ते आजकल भी गावों में पाए जाते हैं। दूसरी जाति का कुत्ता बुलडॉग वर्ग का था। इस कुत्ते का रंग भूरा होता था। मिट्टी के एक खिलौने से पता लगता है कि कुत्ते शिकार खेलने में भी काम आते थे। हड़प्पा से प्राप्त एक माडल कुत्ता अपने दाँतों से खरगोश को पकड़े हुए है। सिकंदर जब भारत में आया था तो राजा सौभूति ने कुत्तों का एक सुंदर प्रदर्शन किया था। इसमें कई जाति के कुत्ते थे*। घोड़े की भी वही जाति थी जो अब तक पश्चिमी सीमा प्रांत में पाई जाती है। खेद है कि घोड़े का प्रत्यक्ष चित्रण किसी मुद्रा पर नहीं दीख पड़ता। मिट्टी में बना, घोड़े की तरह का एक खिलौना है†। इसके या तो कान थे ही नहीं या वे बहुत छोटे बनाए गए थे। मि० मैके इसे ठीक घोड़े का नमूना नहीं मानते किंतु अन्य विद्वान् इसे घोड़ा ही मानते हैं। सर औरियल स्टाईन को भी बलूचिस्तान में कुछ ऐसे खिलौने प्राप्त हुए थे। मद्रास म्यूजियम में रक्खे कुछ खिलौनों से भी इनकी तुलना हो सकती है‡। सिंध के बैल उत्तम जाति के होते थे। उनकी मांस-पेशियाँ कितनी दृढ़ तथा

---

* मेगेस्थनीज फ्रैगमेंट्स पृ० ६।

† आ० स० रि० १६२८-२६, पृ० ७४।

‡ फुट—कैटलॉग ऑव दि प्रीहिस्टौरिक एंटिक्विटीज इन दि मद्रास म्यूजियम, पृ० ४८-४९।

शरीर कितना सुडौल होता था यह मुद्राओं में चित्रित बैलों से ज्ञात होता है। अभी तक सिंध में बहुत अच्छी नस्ल के बैल मिलते हैं। इन शानदार बैलों की नस्लों की रक्षा तथा पालन की कैसी सुंदर व्यवस्था सिंधु प्रांत में थी, इसका अनुमान पशुओं के सुंदर ढाँचों से किया जा सकता है।

कताई बुनाई के काम के दमकड़े गरीब तथा अमीर दोनों के घरों में मिले हैं। इनमें कुछ तो फियांस (नफीस मिट्टी) के तथा कुछ साधारण मिट्टी के बने हैं। इन दमकड़ों में दो या तीन तक छिद्र हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मोहें जो दड़ो में कताई बुनाई का अच्छा प्रचार था। एक बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु जो मोहें जो दड़ो में प्राप्त हुई है वह सूत के कपड़े का एक टुकड़ा है। सन् १९२६ की खुदाई में रा० ब० (अब स्वर्गीय) श्री दयाराम साहनी को सूत के कपड़े में लिपटी एक कलसी मिली थी। इस कलसी के अंदर कई बहुमूल्य गहने थे। इस टुकड़े की परीक्षा बंबई की भारतीय सूत की प्रयोगशाला में हुई। मि० टनर ने इसकी जाँच की और प्रमाणित किया कि यह कपड़ा विशुद्ध भारतीय सूत का बना है। स्मरण रहे कि मोहें जो दड़ो की समकालीन सभ्यताएँ केवल अतसी (फ्लैक्स) से ही परिचित थीं। इसके बाद मि० मैके को भी सूत के कुछ धागे तथा कपड़े के टुकड़े प्राप्त हुए। ये कपड़े ताम्र की कुछ वस्तुओं पर लपेटे हुए थे। कदाचित इन वस्तुओं की रक्षा के लिये ही यह कपड़ा बाहर से लपेटा गया था। ये

कपड़े भी शुद्ध भारतीय कपास से बने हैं। तीन बर्तनों पर चिपका कपड़ा तो छाल के रेशों से बना है।* कुछ सूत के टुकड़ों पर मंजीठ का रंग भी चढ़ाया गया था।

खेद है कि हड़प्पा की खुदाइयों में कोई कपड़ा प्राप्त नहीं हुआ है, किंतु वहाँ के निवासी अवश्य बुने कपड़ों का प्रयोग करते थे। बुने कपड़ों की छाप हड़प्पा के कुछ फियांस के बने बर्तनों के अंदर तथा मिट्टी की ईंटों पर दीख पड़ती है†।

बैराट (जयपुर) की खुदाई में फिर रा० ब० साहनी ने एक सूत का कपड़ा प्राप्त किया। इस कपड़े के अंदर कुछ सिक्के रक्खे थे। यह कपड़ा ईसा की पहली शताब्दी का है‡।

भारत में कपास की कताई-बुनाई का प्रारंभ कब से हुआ, इसका पता नहीं है। कताई-बुनाई के दमकड़ों का वर्णन तो ऋग्वेद काल से लेकर सूत्रकालीन साहित्य तक मिलता है। ऋग्वेद में वर्णित शब्द 'वाय' सूत कातने ही से संबंध रखता है। यह ज्ञात होता है कि उस काल में स्त्रियाँ भी सूत कातती थीं। अनेक स्थलों पर उनके लिये 'सिरी' तथा 'वायित्रि' शब्द प्रयुक्त हुए हैं§। किंतु ऋग्वेद में ऊन तथा रेशम ही का वर्णन है।

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ५६१।

† वत्स—य० ह०, पृ० ४६६।

‡ साहनी—यक्सकावेशन्स ऐट बैराट, पृ० २२।

§ ऋग्वेद १०, ७१, ६।

शतपथ ब्राह्मण १३, १, २।

ऊन पहले तो बकरी के चर्म से निकाला जाता था, पर पीछे भेड़ की ऊन का व्यवहार होने लगा था। रेशम कई प्रकार का होता था—यथा तारप्य और क्षूम*। कपास का सर्वप्रथम उल्लेख हम 'अश्वलायन गृह्य सूत्र' में पाते हैं। यूनान, रोम तथा यहूदी लोग कपास को उसके संस्कृत नाम 'कार्पास' से ही जानते थे। इसमें संदेह नहीं कि कपास की सर्वप्रथम उत्पत्ति उत्तर भारत में हुई थी†।

मोहें जो दड़ो में पहनने का कोई वस्त्र नहीं मिला है। दो चार खंडित मूर्तियों तथा खिलौनों के वेशों से ही हम यहाँ की वेश-भूषा के विषय में थोड़ा बहुत जान सके हैं। कुछ स्त्रियों की मूर्तियों पर पंखे की तरह का विचित्र शिरोवस्त्र दीख पड़ता है। यह शिरोवस्त्र पीछे से शायद किसी नारे द्वारा बाँधा जाता था। इस ढंग की शिरोभूषा संसार के अन्य किसी देश में देखने को नहीं मिलती। मोहें जो दड़ो 'तथा हड़प्पा में यह शिरोभूषा उन्हीं मूर्तियों तक सीमित है जिनको कि पुरातत्त्व पंडित मातृदेवी की मूर्त्तियाँ मानते हैं। कुछ मूर्त्तियों में सिर के दोनों ओर प्याले जैसी वस्तुएँ हैं (चित्र सं० ७)। शायद इन पर घी, मक्खन आदि रखकर जलाया जाता रहा होगा‡। क्योंकि शिरो-

* अथर्ववेद—१८, ५, ३१।
मैत्रिय संहिता—३, ६ ॥

† जयचंद्र विद्यालंकार—भारतभूमि व उसके निवासी, पृ० ३१।

‡ मैके—फ़० य० मो०, पृ० २६०।
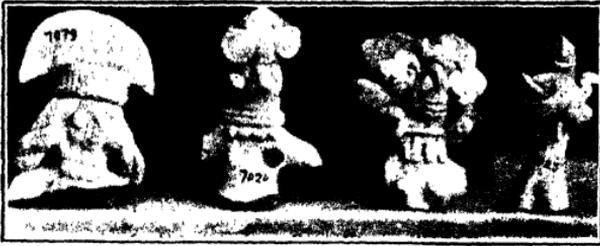
चि० सं० ६

चि० सं० ७

वस्त्रों पर कुछ धुएँ की लपटों के चिह्न हैं। मातृदेवियों की मूर्त्तियाँ केवल एक पटका पहने हैं (चित्र सं० ४)। उनके शरीर के अन्य भाग नग्न हैं। केवल एक उदाहरण में शरीर पर संघाटी सी है। शायद संघाटियाँ शीत आदि से बचने के लिये पहनी जाती थीं।

पुरुष प्रायः शाल की तरह के कपड़े को शरीर पर लपेटते थे। यह शाल बाएँ कुहने के ऊपर तथा दाएँ हाथ के नीचे होकर शरीर पर पड़ा रहता था। इसके नीचे भी कोई वस्त्र पहना जाता था या नहीं, इसका कोई प्रमाण हमें नहीं मिल सका है। संभवतः यह शाल किसी पिन से शरीर पर बाँधा जाता था। मेसोपोटेमिया की कई कब्रों में अस्थिपंजरों की बाँहों के निकट पिनें प्राप्त हुई थीं। वूली महोदय का कहना है कि उस काल में शरीर का बाहरी वस्त्र सिला नहीं होता था। शरीर पर लपेटकर यह कपड़ा पिन से बाँध दिया जाता था*। उर में भी जो ऐसी पिनें मिली हैं, वे भी कुचली हुई खोपड़ियों के निकट पड़ी थीं†। मि० मैके कहते हैं कि ये पिनें वास्तव में सिरों पर लगाने की हैं। किश की खुदाइयों से तो यह प्रमाणित हो ही गया है कि ऐसी पिनें केवल सिर पर लगाई जाती थीं‡। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी आव-

---

* वूली—'डिगिंग ऑव दि पास्ट' पृ० १०४-५।

† वूली—रॉयल सिमेट्री, पृ० २३९।

‡ ऐंटिक्वेरीज जर्नल, जनवरी १६२९, पृ० २९।

श्यक है कि गढ़वाल प्रदेश में अभी तक एक दो पट्टियों में लोग सिले कपड़े नहीं पहनते। वे बाहर से भाँग के रेशों से बनी चद्दरें (त्यूँ-खे) तथा पतले ऊनी कंबलों को पहनकर फिर उन्हें पिनों से बाँध देते हैं।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि सिंधु प्रांत निवासी रँगाए हुए कपड़ों को भी पहनते थे। यहाँ के कुछ फर्शों पर ऐसे मिट्टी के बरतन जड़े थे, जिनमें शायद रंग भरा जाता था। इनमें ही रंगने के लिये कपड़े डुबोए जाते रहे होंगे। इन बरतनों के मुँह के चारों ओर ईंटें लगी थीं*।

एक मृण्मूर्त्ति में एक स्त्री कंबल की तरह किसी कपड़े से शरीर को लपेटे है। कदाचित् इस प्रकार का कोई वस्त्र शीतकाल में ओढ़ा जाता रहा हो।

गरीब और धनी व्यक्तियों की वेश-भूषा में बड़ा अंतर रहा होगा। गरीब लोग तो साधारण कपड़े पहनते तथा धनी लोग कला-पूर्ण या शिल्प-सुसज्जित कपड़े पहनते थे। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा निवासियों को नाना भाँति के केश-कलापों से प्रीति थी। बाल प्रायः पीछे की ओर ले जाकर जूड़े या चोटी में गूँथे जाते थे। कुछ मूर्तियों में बाल कटे से मालूम देते हैं। शायद उस समय भी 'बाब्ड' ढंग के बाल रखने की प्रथा थी। एक दो उदाहरणों में बाल बिना गूँथे या बिना बाँधे पीछे की

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० १९७।

ओर छोड़ दिए गए हैं। बालों को बाँधने के लिये नारों का प्रयोग होता था। ये नारे प्रायः बुने रहते होंगे क्योंकि कुछ नारों में गाँठें दीखती हैं। सोने के बने नारे भी प्रचलित थे। इनका प्रयोग संपन्न घरानों के लोग ही कर सकते रहे होंगे। साधारणतया सोने के नारे १६ इंच लंबे और $\frac{1}{2}$ इंच चौड़े हैं। सिर पर शायद टोपी आदि भी लगाई जाती थी।

केश-रचना की यह सुंदर परंपरा अजंता, इलौरा, बाघ तथा त्रावणकोर के भित्तिचित्रों में भी पाई जाती है। किंतु समयानुसार नवीन और प्राचीन ढंगों में अंतर हो गया है। मोहें जो दड़ो केशकला प्राचीन काल की है; अजंता और इलौरा की नवीन युग की। किंतु दोनों युगों की कलाएँ सौंदर्य्य-प्रेम का परिचय देती हैं।

पुरुष छोटी छोटी दाढ़ियाँ रखते थे। ओंठ का ऊपरी भाग प्रायः साफ रहता था। ऐसी प्रथा अभी तक दाढ़ी रखनेवाले मुसलमानों में भी पाई जाती है। सुमेर के लोग भी ओंठ का ऊपरी भाग साफ रखते थे। एक मूर्ति की दाढ़ी इतनी कसी है कि ऐसा मालूम होता है कि उस समय लोग दाढ़ियों पर मरहम या खिजाब लगाते थे। दूसरे उदाहरण में दाढ़ी की नोक ऊपर की ओर घुमा दी गई है। शायद ऐसी दाढ़ियाँ किसी देवता के संप्रदाय से संबंध रखती थीं *। कुछ खिलौनों में सिर मुंडे हुए भी मालूम होते हैं।

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० २६४.

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में उस्तरों की शक्ल के कई औजार मिले हैं। सबसे प्रचलित उस्तरे वे हैं जो दोनों ओर से काम दे सकते थे। बिल्कुल सीधे तथा सिरे पर गोलाकार नमूने के उस्तरे भी व्यवहृत होते थे। सिर मूंड़ने के लिये भी शायद ये ही उस्तरे प्रयोग में लाए जाते थे।

मोहें जो दड़ो में कुछ सुइयाँ भी मिली हैं। कुछ बड़े बड़े तार ऐसे मिले हैं जो शायद सूजे थे जिनसे बोरे या चमड़े की वस्तुएँ सिली जाती थीं। श्री दीक्षित ने तीन स्वर्ण की सुइयाँ भी प्राप्त की थीं। इनमें एक तो केवल सजावट के लिये थी। यह संभव है कि इन मूल्यवान सुइयों का प्रयोग धनाढ्य घरों की युवतियाँ या राजकुमारियाँ ही करती रही हों। सैकड़ों वर्षों तक भूमि में पड़ी रहने के कारण इन पर बुरी तरह से जंग लग गई है और इस कारण इनके वास्तविक स्वरूप को जानना कठिन हो गया है।

ताँबे के बटन भी खुदाई में मिले हैं। इन बटनों का आकार बीच में गुंबद सा है। फियांस के बटन भी चलते थे।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा निवासियों के कला-प्रेम का सर्वोत्तम उदाहरण उनके आभूषणों से ज्ञात होता है (चित्र सं० १२)। आज तक जितनी भी मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं वे सब आभूषणों से लदी हैं। स्त्रियों के अतिरिक्त बच्चे भी आभूषण पहिनते थे। पुरुष केवल एक मृण्मूर्त्ति में आभूषण पहिने हैं। नगर के निम्न वर्ग के लोग मिट्टी या घोंघे के आभूषण
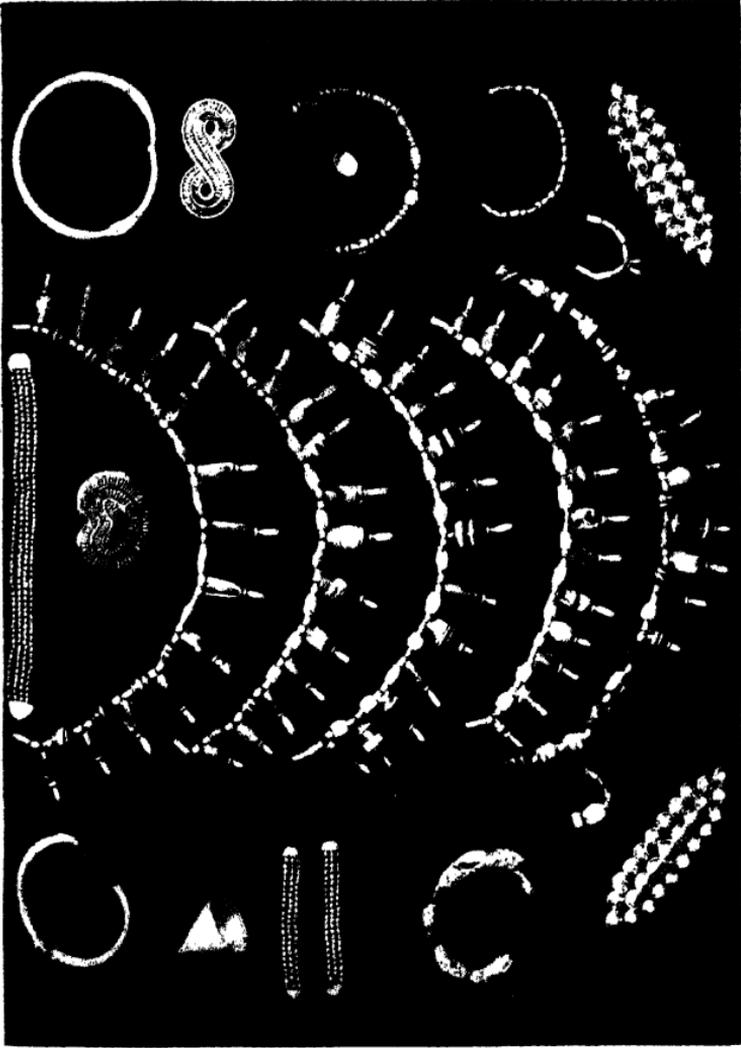
चि० सं० १२

चि० सं० २६

पहिनते थे। धनी लोग सोने, हाथीदाँत तथा अन्य बहुमूल्य पत्थरों के बने गहने अपनाते थे। आभूषणों में गले का हार, सिरबंद, बाजूबंद, करधनी, पायजेब आदि मुख्य थे। शायद गले में हँसली भी पहिनी जाती थी। मालाओं के अंत में लगाने के लिये सोने तथा अन्य धातुओं की पट्टियाँ बनती थीं। इन पर दो से छः तक छिद्र बने होते थे। इससे मालूम होता है कि मालाओं में कई लड़ियाँ होती थीं। कमर में करधनी पहिनने का भी प्रचलन था। ये हारों ही की तरह होती थीं। इनमें अकीक आदि मूल्यवान् पत्थरों का प्रयोग हुआ है। अनेक हार चंदनहारों की तरह गले में पहिने जाते थे। कड़े प्रायः धातुओं के बने होते थे। चाँदी और सोने के कुछ कड़े अंदर से खाली हैं। इनके अंदर शायद लाख की तरह कोई पदार्थ भरा जाता रहा होगा। आज कल ही की तरह उस काल के लोग भी शृंगार से विशेष रुचि रखते थे। आभूषणों को रखने के लिये शृंगारदान आदि भी रहे होंगे। इन आभूषणों की सुंदरता देखते ही बनती है। गुरियों के काटने और बेधने की अनुपम युक्ति तथा नाना भाँति के रंगों के मिलान की दृष्टि से पिरोए जाने के ढंग से सिंधु प्रांत-निवासियों के कलाप्रेम पर सुंदर प्रकाश पड़ता है (चि० सं० १०)। सबसे अच्छे आभूषण अभी तक चाँदी की कलसी (चि०स०२६) में श्री दीक्षित को मिले हैं। कंठहारों में सोने की प्रायः चिपटी गुट्टिकाएँ व्यवहृत होती थीं। दो साधारण कर्णफूल तथा चाँदी-

ताम्र की कई अँगूठियाँ खुदाई में निकली हैं। कुछ अँगूठियाँ साधारण तारों को मोड़कर बनाई गई हैं तथा कुछ के लिये केवल चपटे तार प्रयुक्त हुए हैं। कानों के लटकनों का अभाव दीखता है। सर जान मार्शल की धारणा है कि किसी कारण से मृत्यु के बाद कानों से लटकन निकाल दिए जाते थे*। निकट भविष्य की खुदाइयों में शायद लटकन फिर प्राप्त हो सकें। कानों के कुंडल कैसे थे इसका भी पता नहीं। एक प्रकार के कुंडल तो गुरियों में छिद्र करके बनाए जाते थे। यह भी संभव है कि कुंडल किसी गैरटिकाऊ पदार्थ के बनते थे, या कुंडल यहाँ के निवासियों को अरुचिकर प्रतीत होते थे। बिना पालिश का एक छल्ला मिला है, जिसे कुंडल माना जा सकता है। स्त्रियाँ शायद पायजेब, झँवर आदि ढंग के गहनों को पैरों में पहिनती रहती होंगी। एक पीतल की मूर्ति में पैर के आभूषण हैं किंतु वे ठीक ठीक नहीं पहिचाने जाते। फियांस की नाक की कीलें तथा फूलियाँ भी संभवतः लोगों को ज्ञात रही हों। किंतु यह अनुमान विवादग्रस्त है; क्योंकि किसी भी मृण्मूर्ति पर नाक का आभूषण नहीं दीख पड़ता है। कई विद्वानों की धारणा है कि नाक का विशेष आभूषण मुसलमानों के आगमन के साथ भारत में आया। इस धारणा में अवश्य सत्यता है, क्योंकि समस्त प्राचीन संस्कृत-साहित्य की छान-बीन करने पर

---

* मार्शल--मो० इं० सि०, पृ० ५२८।

किसी स्थल पर भी नाक के आभूषण का वर्णन नहीं है। फिर साँची, भारूत, अमरावती तथा मथुरा की किसी भी मूर्ति में, जो कि विभिन्न प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित है, नाक का आभूषण नहीं दीख पड़ता* ।

अनेक मृण्मूर्तियों के हाथ-पैर खंडित हो गए हैं इस कारण हाथ तथा पैरों के आभूषणों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। मोहें जो दड़ो में संभवतः हाथ में पहिनने के अंतक प्रचलित नहीं थे। अभी तक अंतक केवल एक पत्थर की मूर्ति के हाथ पर दीख पड़ा है। किसी धार्मिक संकोच के कारण शायद अंतक किसी विशेष वर्ग के लोग ही पहिन सकते थे।

मिट्टी के बने अनेक बाजूबंद भी प्राप्त हुए हैं। इनमें कुछ तो बड़ी सावधानी के साथ पकाए गए हैं। कुछ बाजूबंदों में लिखा हुआ भी है। शायद ये बाजूबंद करामाती समझे जाते थे †। त्रिकोण ढंग का शिरोभूषण, जिसे चौक कहते हैं सिंधु प्रांत में बहुत प्रचलित था। यह आभूषण हड़प्पा की कई आकृतियों में दीख पड़ता है। यह आभूषण फियांस, हाथी-दाँत या मिट्टी का बनता था।

---

* अल्टेकर—पोजिशन ऑव वोमेन इन हिंदू सिविलाईज़ेशन पृ० ३६२-६३ ।

† मैके--फ० य० मो०, पृ० ५३६ ।

बड़े हार अधिकतर पीतल या ताम्र के हैं। गरीब लोग मिट्टी ही के हार पहिनकर संतोष कर लेते थे। गुरियों का एक दर्शनीय कंठहार प्राप्त हुआ है। कुछ कंठहारों पर लिखा हुआ भी है। इन पर शायद निर्माणकर्त्ता या वस्तु-अधिकारी के नाम खुदे हैं।

एक विशेष बात, जो मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में दीख पड़ती है, यह है कि यहाँ सोने की बनी (एक के अतिरिक्त) अँगूठी नहीं मिली है। अधिकतर अँगूठियाँ ताम्र की हैं और इनकी बनावट बिल्कुल सुमेर जैसी है। अँगूठियाँ या तो गोल डंडियों या तार के छल्लों से बनती थीं। चाँदी की अँगूठियाँ भी बहुत कम थीं। चाँदी की तो सिंधु प्रांत में किसी भी प्रकार से कमी नहीं थी, फिर भी आश्चर्य होता है कि इस प्रांत के लोगों ने चाँदी की अँगूठियाँ क्यों इतनी कम बनाईं। शायद इस धातु में अँगूठियों के बनाने का निषेध रहा हो।

कई मृण्मूर्त्तियों के गले में कॉलर के नमूने का कोई आभूषण है। एक मूर्त्ति से तो ज्ञात होता है कि यह कॉलर कई छल्लाओं से बना है। यह आभूषण गले पर कसके बँधा सा रहता है।

फियांस के कई छोटे छोटे बर्त्तन हड़प्पा व मोहें जो दड़ो में प्राप्त हुए हैं। इनमें पीने का पानी तो अधिक मात्रा में नहीं आ सकता है इसलिये अनुमान किया जाता है कि इन पर शृंगार का कोई पदार्थ रक्खा जाता था। कुछ बर्तनों पर शायद छोटे छोटे गहने भी रखे जाते थे। आजकल भी

स्त्रियाँ छोटे छोटे गहनों को सिंदूर या पिठाई के अंदर छोटी कलसियों के अंदर रखती हैं। आज वैज्ञानिक युग में हम क्रीम, वेसलीन, पाउडर आदि सौंदर्य्य-वर्धक पदार्थों की भरमार देखते हैं। किंतु प्राचीन काल के लोगों में भी सौंदर्य्य बढ़ाने की प्रबल इच्छा थी। हड़प्पा में बोतल के सदृश एक पात्र मिला है। इसके अंदर काई काले रंग का पदार्थ था। शायद इसमें सुरमा या अन्य ऐसा ही कोई पदार्थ रखा था*। नेत्रों पर लगाने के आँजनों को रखने के बर्तनों तथा सीकों से मालूम होता है कि स्त्रियाँ (और शायद पुरुष भी) आँखों में काजल लगाती थीं। कई बर्तनों में लाल महीन मिट्टी, जो कि गेरू की तरह है, मिली है। घोंघे की डिब्बियों में यह पदार्थ रखा जाता था। यह पदार्थ सुमेर, किश, उर तथा नाल में भी प्रचलित था और निस्संदेह प्राचीन काल के पूर्वी देशों में रहने-वाले सभी लोग इसका प्रयोग करते थे। मेसोपोटेमिया में भी रानी शुब-अब की कब्र पर ऐसे पदार्थों से भरी कई डिब्बियाँ मिली हैं। उनके अंदर रंग अब बहुत ठोस हो गए हैं। इनमें पीला, लाल, नीला, हरा तथा काला रंग था†। फिर मोहें जो दड़ो में सीसे का ऐसा द्रव्य भी पाया गया है जो यूनान व चीन में चेहरे पर श्वेत आभा लाने के लिये प्रयुक्त होता था।

---

* वत्स——य० ह०, पृ० ३१२।

† वूली—दि रायल सिमेट्री, पृ० २४५।

एक प्रकार का हरा पदार्थ, जो कि ढेरों के रूप में मोहें जो दड़ो में मिला है, संभवतः नेत्र-सौंदर्य-वर्धक कोई पदार्थ था।

कुओं की बहुतायत से अनुमान किया जाता है कि सिंधु-प्रांत-निवासी निजी स्वच्छता पर विशेष ध्यान देते थे। वे स्नान आदि के लिये नदी के जल का भी प्रयोग करते रहे होंगे। आज दिन स्नान ध्यान की जो विशद प्रथा भारत में है उसका उद्गम संभवतः सिंधु प्रांत से ही हुआ है*।

पकाई हुई सैकड़ों मृण्मूर्त्तियाँ तथा खिलौने सिंधु प्रांत में मिले हैं। ये बड़े ही कौतूहलजनक हैं। आज तो ये खिलौने गैंती व फावड़ों की ठोकरें खाते फिरते हैं; किंतु एक समय ये खिलौने बच्चों के स्नेह की अनुपम वस्तुएँ रही होंगी। एक बैल का सा खिलौना है। इसका सिर हिलता है। ऐसे खिलौनों का बहुत प्रचार था। एक हाथी है जिसको दबाने से विचित्र शब्द होता है। एक पशु ऐसा है जिसके सींग तथा सिर तो भेड़ की तरह हैं किंतु शरीर तथा पूँछ चिड़िया जैसी है। इस पशु के दोनों ओर छिद्र हैं। इन छिद्रों पर लकड़ी डालकर या तो पहिए जोड़े जाते थे या इन छिद्रों में रस्सी डालकर पशु को झुलाया जाता था†। सीटियाँ भी असंख्य मिली हैं। कई

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० १८।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ५५०।

सीटियाँ मुर्गी तथा नाशपाती की शक्ल की हैं। इनके सिरे व बगल में छिद्र हैं। ऊपर के छेद से बजाने तथा बगल के छिद्र को बंद करने पर विचित्र आवाज आती है। कुछ पक्षी पिंजड़े में बंद दिखलाए गए हैं। हड़प्पा में प्राप्त कुछ पिंजड़े ओखल तथा नाशपाती की शक्ल के हैं। एक पिंजड़े में बड़ा सुंदर दृश्य है। इसमें एक पक्षी तो पिंजड़े से बाहर निकल रहा है तथा दूसरा पिंजड़े की बाहरी दीवाल पर बैठा है। ऐसा जान पड़ता है, कुछ पशुओं के धड़ ही बनाए जाते थे। इनके पैर लकड़ी के बनते रहे होंगे। एक पिंजड़े के अंदर बुलबुल जैसा पक्षी है। मिट्टी के झुनझुने भी बच्चों के बीच बहुत प्रचलित थे। इनके अंदर एक से लेकर तीन तक दाने होते थे। ये झुनझुने हाथों से बनते थे। मिट्टी तथा मनुष्य-आकृति के खिलौने भी यत्र तत्र दीख पड़ते हैं। मि० मैके को खुदाई में बौनों के रूप के कई खिलौने मिले थे। ऐसे बौने मिश्र में आमोद-प्रमोद के लिये प्रयोग में आते थे। मोहें जो दड़ो के ये बौने भी किसी खेल में काम आते रहे होंगे।

घोंघे में बने कोई मौडल खिलौने मोहें जो दड़ो या हड़प्पा में नहीं मिले हैं। घोंघे को काटना कठिन होता है और शायद इसी कारण इस वस्तु के खिलौने नहीं बनाए गए।

प्राचीन काल के लोगों ने अपने बच्चों के दिलबहलाव के लिये प्रचुर सामग्री प्रस्तुत कर रखी थी। वे लोग सर्वसंपन्न थे, इस कारण वे जीवन की प्रत्येक सुविधा को अपने कुटुंब के

लिये प्रस्तुत कर सकते थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि सिंधु प्रांत में खिलौने, आधुनिक चीन तथा जापान की तरह, औद्योगिक दृष्टिकोण से भी बनाए जाते थे।

सिंधु-प्रांत-निवासी गाड़ी तथा रथ के प्रयोग से विज्ञ थे। गाड़ी के खिलौनों के कई पहिए हड़प्पा तथा मोहें जो दड़ो में मिले हैं। यह भी विशेष महत्त्व की बात है कि सभ्यता के इस काल में भी सिंधु-प्रांत-निवासी गाड़ियों से परिचित थे। पशु तथा पक्षियों की आकृति के अनेक रथ खुदाई में निकले हैं। इनके अंदर बिल्कुल खोखला है। साधारणतया रथों पर दो पहिए लगते थे, किंतु कुछ गाड़ियों में चार चार पहिए तक लगे थे। रथों को कौन जानवर खींचता था, यह ज्ञात नहीं है। घोड़े की थोड़ी हड्डियाँ तो अवश्य प्राप्त हुई हैं, किंतु ये हड्डियाँ बहुत प्राचीन नहीं हैं। अनेक प्रमाणों से कहा जा सकता है कि सिंधु-प्रांत निवासी घोड़े से अनभिज्ञ थे*। एक खिलौने का पहिया तो रथ ही के साथ जुड़ा हुआ था। दूसरा रथ एक संदूक की तरह है। एक रथ करीब दो इंच ऊँचा है। इसमें गाड़ीवान के बाल पीछे की ओर सुलझे हुए हैं। इसका चेहरा गोल तथा नाक चपटी व ऊँची है।

हड़प्पा में ताम्र की एक छोटी सुंदर गाड़ी मिली है (चि० सं० २५)। इसको खींचनेवाला पशु तथा पहिए खो गए हैं। गाड़ी

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ५०।

अगले तथा पिछले भाग में खुली है। इसके ऊपर चँदोवा पड़ा है। आगे से एक ऊँचे स्थान पर गाड़ीवान बैठा है*। हड़प्पा से प्राप्त दूसरे उदाहरण में एक गाड़ी के दोनों ओर के पहिए लकड़ी द्वारा थमे रहते होंगे। इन पहियों के ऊपर सामान रखने का स्थान है। इस पर चार छिद्र बने हैं जिन पर लकड़ी गाड़कर चँदोवे के लिये आधार बनते रहे होंगे। गाड़ी के आगे एक छिद्र है जिसमें पशु बाँधा जाता होगा†। चन्हू दड़ो में भी दो मिट्टी की गाड़ियाँ मिली हैं‡। इनमें, एक में गाड़ीवान हाथ में कोड़ा लिए हुए है। दूसरी गाड़ी देहाती गाड़ी सी मालूम देती है। संभवत: प्राचीन काल में गाड़ियाँ बैलों द्वारा ही खींची जाती थीं।

प्राचीन उर के लोग रथों से अनभिज्ञ नहीं थे। उर में प्राप्त एक पत्थर (जो किसी स्थान पर जड़ा था) पर रथ का चित्रण है। इसको पाँच गर्दभ खींच रहे हैं। बनावट से पता लगता है कि असल में रथ लकड़ी के बनते थे। यह रथ अनुपम ढंग का है और ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय उर-निवासियों के लिये रथ कोई नवीन वस्तु नहीं थी§। मि० मैके इस रथ की तुलना सिंधी गाड़ियों से करते हैं। दोनों स्थानों

---

* आ० स० रि० १९२६-२७, पृ० १०५।

† वत्स—य० ह०, पृ० ४५१।

‡ आ० स० रि० १९३५-३६, पृ० ४२।

§ गैड—हिस्ट्री ऑव मॉनूमेंट्स इन उर, पृ० ३१-३३।

के पहिए लकड़ी के तीन हिस्सों को जोड़कर बनते थे। फिर रथ के अनेक भागों को जोड़ने के ढंगों में भी दोनों देशों में समानताएँ दीखती हैं। तृतीय सहस्राब्दी में उर में कम से कम तीन प्रकार के रथ थे* ।

मिस्र-देश-निवासियों को भी संभवत: रथ का ज्ञान था। किंतु उन्होंने इसका वास्तविक उपयोग देर में किया। सम्राट् हिकसोस के धावे तक मिस्र की किसी भी वस्तु पर रथ का चित्रण नहीं मिलता है। रथ का प्रयोग वहाँ द्वितीय या तृतीय सहस्राब्दी के मध्य में हुआ होगा† ।

हड़प्पा में प्राप्त कुछ गर्दभ की हड्डियों से ज्ञात होता है कि यह पशु सिंधु-प्रांत-निवासियों को ज्ञात था। यह पता चलाना वास्तव में कठिन है कि यह पशु बोझा ढोने के काम आता था या नहीं। किंतु यह मान्य बात है कि प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक युग में बैलगाड़ियों से ही बोझा ढोने का काम लिया जाता था।

बेबीलोन की सभ्यता के प्रारंभिक काल में वहाँ के निवासी घोड़ों से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। उस समय वहाँ के रथों को प्राय: गर्दभ ही खींचा करते थे‡ ।

---

* ऐंटिक्वेरीज जर्नल १९२९, पृ० २६-२७ ।

† हैाल—हिस्ट्री ऑव दि नियर ईस्ट, पृ० २१३ ।

‡ किंग—ए हिस्ट्री ऑव बेबिलोनिया पृ० १३६ ।

अन्य वस्तुओं में मिट्टी की एक मोमबत्ती तथा उसी को रखने का बर्तन है। हड़प्पा की इमारतों में लैम्प रखने के लिये आधार भी बने थे। ये आधार दीवाल पर चुनी गई ईंटों के थे, जो कि दीवाल की सतह से आगे कर दी जाती थीं। ये ईंटें बीच में गहरी कर दी गई हैं। या तो इनमें दीपक रखे जाते थे, या ये स्वयं दीपक का काम देते रहे होंगे। यहाँ कुछ ऐसे भी बर्तन हैं जो कि दीपक का काम देते थे। ये आकार में समचतुरस्र हैं, तथा इनमें एक ओर ऊँची पीठ बनी है। इस पर धुएँ के दाग अभी तक दीख पड़ते हैं*। मिट्टी के बने साधारण चिराग तो बहुत प्रचलित थे।

एक प्रकार के वर्तुलाकार बर्तनों पर कई छिद्र बने हैं। जब मिट्टी गीली रहती थी, उसी समय ये छिद्र लकड़ी से बना दिए जाते थे। ये बर्तन अच्छी तादाद में मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में मिले हैं। कुछ बर्तनों की तली में तो एक ही बड़ा छिद्र है। ये शायद उस काल की वस्तुओं को गरम करने के साधन (हीटर्स) थे। मि० मैके का तो अनुमान है कि इन बर्तनों से दही निकाला जाता था।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा के बच्चे आजकल ही की तरह गहने पहिनने का शौक रखते थे। वे आपसी खेल के लिये गुड़ियाँ भी बनाते रहे होंगे किंतु गैरटिकाऊ पदार्थ की होने के कारण वे अब नष्ट हो चुकी हैं।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ३७४।

सिंधु प्रांत के लोग पशु-पक्षियों का शिकार भी खेलते थे। दो तावीजों में अंकित दृश्यों में एक हरिण तथा जंगली बकरा तीर से मारे जा रहे हैं*। आल्प्स पर्वत पर विचरण करनेवाले जंगली बकरे का चित्रण भी मोहें जो दड़ो के कुछ बर्तनों पर है। यह निस्संदेह शिकार का एक पशु था। धनुष उन लोगों का प्रमुख शिकार खेलने का साधन था। चकमक तथा साधारण पत्थर के तीरों के सिरों का सिंधु प्रांत में सर्वथा अभाव है। धातु के बने भी थोड़े से सिर हैं। इनकी आयु भी मोहें जो दड़ो कालीन नहीं मानी गई है। आजकल ही की तरह मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में गुलेल का प्रचार भी था। इनमें प्रायः दो प्रकार की गोलियाँ (१) गोलाकार तथा (२) अंडाकार व्यवहृत होती थीं। ये गोलियाँ प्रायः हाथ से ही बनाई जाती थीं। इन गोलियों में से कुछ तो धनुषों द्वारा भी फेंकी जाती रही होंगी। इस ढंग की गोलियाँ सुमेर तथा तुर्किस्तान में भी प्रचलित थीं†।

भालों के फल, तलवारें तथा कटारें खुदाई में मिली हैं। मछली तो काँटे द्वारा मारी जाती थी। शैली में ये काँटे संसार के इतिहास में अपने ढंग के एक ही हैं। इन काँटों के छिद्र

---

* मैके—इं० सि०, पृ० १८६।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ४६६।

तथा बनावट वैसी ही है, जैसी कि आजकल के काँटों में होती है। मछलियाँ अधिकतर सिंधु नदी ही में मारी जाती रही होंगी। गदाओं के सिरे पत्थर के होते थे। इनका मोहें जो दड़ो में बड़ा प्रचार था। इनमें कुछ तो कंकड़ या चूने के पत्थर तथा कुछ हरे सख्त पत्थर के बनते थे। हड़प्पा में केवल एक धातु का गदा-सिर मिला है। भालों तथा बर्छियों के कुछ सिर बहुत पतले हैं। शायद ये लकड़ी के ऊपर लगाए जाते थे। छोटे छोटे पशुओं के लिये जाल बने रहते होंगे। मोहें जो दड़ो में मिट्टी की, जाल सदृश, कुछ वस्तुएँ मिली हैं।

प्रतिदिवस काम में आनेवाली कितनी ही वस्तुएँ खुदाई में मिली हैं। इनमें अधिकतर खंडित अवस्था में हैं। पदार्थों को भूनने की बेंट सहित एक तश्तरी विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि समस्त सिंधु प्रांत में बेंट सहित यह प्रथम वस्तु पाई गई है। प्याले की शक्ल के भी अनेक बर्तन थे। ये या तो दीपक, या जल पीने के प्याले थे। पत्थर के बहुत कम बर्तन मोहें जो दड़ो में थे। जो कुछ प्राप्त हुए भी हैं वे अलवास्टर में बने हैं। यहाँ के निवासी गुरियों के लिये तो सख्त से सख्त पत्थर काट सकते थे किंतु किसी कारण से वे बर्तनों के लिये पत्थर नहीं काट सके। पत्थर के बर्तन अति साधारण हैं। उनमें न शिल्प है और न कौशल। भूरे तथा लाल चूने के पत्थर की दो सुंदर तश्तरियाँ हैं। इनमें अवश्य कुछ कुशलता दिखलाई गई है। बर्तनों के अंदर किसी बर्मे की तरह के औजार से कोर

लगाया जाता था। पत्थर की दो विचित्र संदूकचियाँ भी मोहें जो दड़ो में मिली हैं। एक संदूकची के अंदर तो चार खाने बनाए गए हैं। शायद इनके अंदर नाना भाँति के सौंदर्य-वर्द्धक पदार्थ रखे जाते थे। यह भी संभव है कि इन खानों में इत्र रखा जाता रहा हो। दूसरी संदूकची के बाहर से अच्छी नक्काशी की गई है।

कई सिलें तथा लोढ़े भी मोहें जो दड़ो में मिले हैं। सिल के बीच अधिक घिसा होने के कारण जान पड़ता है कि उनसे प्रतिदिवस काम लिया जाता था। सिलें प्रायः भूमि पर जड़ी रहती होंगी, क्योंकि इनके तले कुडौल बने हैं। कुछ साधारण तख्तियाँ भी सिल का काम देती रही होंगी। इनमें से कुछ तख्तियाँ पीले स्लेटी पत्थर की हैं। इन पर पालिश तथा अन्य रंग आदि पीसे जाते रहे होंगे।

हड़प्पा तथा मोहें जो दड़ो में गेहूँ प्राप्त हुआ है। किंतु समस्त खुदाइयों में कहीं भी पीसने की चक्कियाँ प्राप्त नहीं हुई हैं। संभवतः उस काल में गेहूँ कूटकर फिर सिलपर में पीसा जाता रहा हो।

संभवतः सिंधु-प्रांत-निवासी चक्कल के प्रयोग से भी परिचित थे। यहाँ अनेक प्रकार के ढाँचे मिले हैं, जिन पर कि रोटियाँ तथा मिठाइयाँ आदि बनती रही होंगी। ऐसे ढाँचों के बनाने में बड़ी सावधानी से काम लिया गया है।

धातु के बने थोड़े से बर्तन मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में प्राप्त हुए हैं। हड़प्पा में एक सुंदर ताँबे का घड़ा प्राप्त हुआ है। इसके ऊपर ढकने के लिये एक तश्तरी थी जो कि घड़े के साथ चिपक गई थी। इस घड़े के अंदर बहुत से बर्तन, औजार तथा आभूषण थे। यह घड़ा दो भागों को जोड़कर बना था*। धातुओं के बर्तनों की कमी का एक कारण यह है कि नगर को छोड़ते समय बहुत से लोग बर्तनों को अपने ही साथ ले गए। धातु सरलता से उपलब्ध नहीं हो सकती थी, इसलिये नगर-निवासी इस कठिनता से प्राप्त धातु की वस्तुओं को छोड़ना नहीं चाहते थे।

कई मकानों के फर्शों के नीचे औजारों तथा हथियारों के समूह मिले हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि किसी भावी आक्रमण की आशंका से लोगों ने जल्दी-जल्दी ये वस्तुएँ गाड़ दी थीं। किंतु यह भी संभव है कि किसी महामारी के भय से लोगों ने कुछ दिनों तक बाहर रहने का इरादा किया हो। चोरी के डर से ही उन्होंने बर्तन भूमि के नीचे छिपाए, किंतु किसी कारण से वे फिर इन वस्तुओं को निकालने के लिये न लौट सके†।

अन्य वस्तुओं में आरियाँ, तलवारें आदि हैं। बेंट के लिये छिद्रवाली एक गैंती मोहें जो दड़ो में मिली है। मोहें जो दड़ो में छिद्रवाला यह पहिला हथियार है। मि० मैके तो कहते हैं कि

* वत्स—य० इ०, पृ० ८५।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० ४४४।

यह शैली कुषाण-कालीन है। किंतु यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी शैलियों का चित्रण प्राय: मिट्टी के बर्तनों पर भी दीख पड़ता है। सिंधु-प्रांत की आरियाँ सुमेर तथा इलम की आरियों से उत्कृष्ट तथा भव्य थीं। पाठक यहाँ इस बात का स्मरण रखेंगे कि प्राचीन देशों की सभ्यताओं में दाँतोंवाले बहुत ही कम औजार व्यवहृत हुए हैं। पीतल की एक १६½ इंच लंबी आरी में नीचे की ओर तीन छिद्र हैं। इन छिद्रों पर कीलों द्वारा बेंट जड़ा रहता होगा। बहुत सी छेनियाँ भी प्राप्त हुई हैं। ये अधिकतर ताँबे तथा पीतल की बनी हैं। इनमें कुछ तो सीधी डंडे के आकार की तथा कुछ चौकोर हैं। दोनों प्रकार की छेनियों के मुख पैने होते थे। दरांतियों तथा हँसियों की तरह के भी कुछ औजार हैं, किंतु वे टूटी फूटी अवस्था में हैं इसलिये उनके ठीक स्वरूप को पहिचानने में कठिनाई होती है। ताँबे की दो तलवारें विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें एक की लंबाई १८½ इंच है। मजबूती के लिये हथियार को एक ओर बीच में मोटा कर दिया गया है। ऐसी ही एक तलवार पैलेस्टाइन में भी मिली है। कुछ हथियारों पर चित्रलिपि सी है। इस वर्ग के हथियार मोहें जो दड़ो में बहुत प्रचलित थे। यह अंकन शायद वस्तुओं की संख्या सूचित करता है। यह भी संभव है कि ये वस्तुएँ किसी नागरिक संस्था या मंदिर की निजी संपत्ति रही हों*। कभी कभी कटारों तथा चाकुओं में भेद

---

* मैके—इं० सि०, पृ० १३१।

दिखलाना कठिन हो जाता है; क्योंकि उनकी बनावट में विशेष अंतर नहीं दीख पड़ता। मोहें जो दड़ो में त्रिकोण आकृति के भी दो चाकू मिले हैं। इन चाकुओं की नोकें नीचे की ओर घुमाई हुई हैं।

पशुओं और पक्षियों को लड़ाना सिंधु-प्रांत निवासियों के आमोद-प्रमोद का एक अंग था। एक मुद्रा में दो जंगली मुर्गों के लड़ने का सुंदर दृश्य है। इसके अतिरिक्त बाघ और अन्य पशुओं की लड़ाइयों के चित्रण भी यत्र तत्र देखने को मिल जाते हैं।

पशु-पक्षी चिरकाल से मनुष्य की क्रीड़ा के साधन रहे हैं। समय समय पर उन्होंने विरही तथा दुखी जनों को सांत्वनाएँ प्रदान कीं, तथा सुखी लोगों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की क्रीड़ाएँ प्रस्तुत कीं। वास्तव में समस्त संस्कृत साहित्य पशु-पक्षियों की क्रीड़ाओं से भरा पड़ा है। ऐसे मनो-विनोद का बहुत ही चित्ताकर्षक वर्णन बाण भट्ट की कादंबरी में मिलता है*। मृच्छकटिक में भी शूद्रक ने ऐसे अनेक पालतू पक्षियों का उल्लेख किया है जो क्रीड़ा के प्रमुख साधन थे†

* कादम्बरी (नि० सा० प्रे०), पृ० १७३।

† पठति शुकः, कुरकुरायते मदनसारिका, योध्यन्ते लावकाः, प्रध्यन्ते पञ्जरकपोताः।—मृच्छकटिक, ४।

महाभारत के एक श्लोक में एक पक्षी एक मनुष्य से कहता है कि मनुष्य तथा पक्षियों में केवल दो प्रकार के संबंध (भक्षण और क्रीड़ा) हैं*—

भक्षार्थं क्रीडनार्थं वा नरा वाञ्छन्ति पक्षिणः।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबंधादृते क्षमः॥

फलकों पर खेले जानेवाले खेल सिंधु-प्रांत निवासियों को ज्ञात थे। चौपड़, पासा तथा शतरंज भी शायद लोग खेलते रहे हों। पाँसे की तरह कुछ गुट्टियों पर १, २, ३ संख्याएँ अंकित हैं। कुछ गोटों में चारों ओर ऊपर-नीचे जानेवाली रेखाएँ भी अंकित हैं। पाँसे वर्त्तुलाकार हैं। इनके अतिरिक्त मिट्टी, फियांस तथा अन्य मूल्यवान् पत्थरों के बने सवार भी हैं। इनको लोग प्रायः चौकोर तख्तियों पर खेलते रहे होंगे। उर की खुदाई में भी कुछ खेलों के लिये बने लकड़ी के फलकों सी वस्तुएँ मिली हैं। मोहें जो दड़ो में तीन भागों में विभाजित एक चौकोर ईंट का टुकड़ा मिला है। यह टुकड़ा कहीं फर्श पर जड़ा रहा होगा। अवकाश पाकर लोग आँगन में ही बैठकर पाँसे आदि खेलते रहे होंगे†। घन की शैली के पाँसे सभी तहों पर प्राप्त हुए हैं, किंतु पाँसे अधिक प्रचलित थे। हाथीदाँत के बने पाँसों की रूपरेखा बड़ी मनोहर है।

---

* महाभारत, शांति पर्व १३९, ६०।

† एंटिक्वीटी, दिसम्बर १९३०, पृ० ४२५।

पाँसे हड़प्पा में भी बहुत प्रचलित थे। यहाँ अधिकतर फियांस और पत्थर के बने पाँसे थे*। मोहें जो दड़ो में पाँसे अधिकतर मिट्टी के बने थे। न जाने किन कारणों से मोहें जो दड़ो में फियांस के पाँसे नहीं बनाए जाते थे।

ऋग्वेद युग में भी जुआ खेलने की प्रथा थी। एक मंत्र में जुआरी जुए के खेल के आनंद का सुंदर वर्णन करता है—

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिण वर्वृताना:
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्य मच्छान् †

किंतु बाद में वह अपनी हार का वर्णन बड़े करुणाजनक शब्दों में करता है। जुआरी को वह आदेश देता है कि वह भविष्य से जुआ न खेले तथा खेती की सम्पत्ति पर ही अपने को संतुष्ट रक्खे !

अक्षैर्मादीव्य: कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमान:
तत्र गाव: कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्य ‡

बौद्ध जातकों से भी ज्ञात होता है कि बौद्ध काल में भी जुए की प्रथा प्रचलित थी। उस समय जुए में जीतनेवाले व्यक्ति

---

* वत्स० य० ह०, पृ० ४५६।

† ऋग्वेद १०, १०-३४।

‡ ऋग्वेद १०, ३४, १३।

को जीत का कुछ भाग राजकोष में भी देना पड़ता था*। यही बात कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी ज्ञात होती है।

संगमरमर की गोलियाँ फेंकने का भी मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में प्रचार था। कुछ गोलियाँ तो अति कठोर पत्थर की बनी हैं। कीमती और सख्त पत्थरों की गोलियाँ शायद पानी के साथ किसी सख्त चूर्ण से रगड़ी जाती रही होंगी। इन गोलियों के साथ साथ चाँदी तथा सोने की गोलियाँ भी रखी थीं। संभवतः चाँदी तथा सोने की गोलियाँ सिंधु-प्रांत में अप्राप्य समझी जाती थीं। हड़प्पा से प्राप्त गोलियाँ दर्शनीय हैं। इनमें जो मिट्टी की बनी हैं उनपर तो भिन्न भिन्न रंगों से पालिश की गई है। संगमरमर तथा पत्थर की गोलियाँ अति साधारण होते हुए भी देखने में बड़ी भव्य हैं। घोंघे की गोलियों पर वृत्तों का चित्रण है। कुछ छोटे कोण के आकार की वस्तुएँ भी मोहें जो दड़ो में प्राप्त हुई हैं। शायद बिलियर्ड की तरह का कोई खेल उस काल में भी प्रचलित रहा हो।

मोहें जो दड़ो में मुद्राएँ बहुत मिली हैं। किंतु इनकी छाप केवल दो चार मिट्टी के बर्तनों पर ही दीख पड़ती है। इन मुद्राओं पर अधिकतर पशु ही चित्रित किए गए हैं। प्रायः सभी मुद्राएँ अच्छे ढंग से किसी औजार द्वारा काटी जाती थीं। इसके बाद छेनी से चित्रण किया जाता था। फिर पालिश करके ये आग

---

* रा० डेविड्स—बुद्धिस्ट इंडिया, १९०३, पृ० ७१-७२।

में पकाई जाती थीं। गरम होने पर इनका रंग श्वेत हो जाता था। इनका असली रंग शायद नीला था; क्योंकि कुछ टूटी मुद्राओं के अंदर का भाग नीला है*। असली मुद्राएँ बहुत कम थीं।

ताँबे की पट्टियाँ कई आकारों की हैं। इनपर भी अधिकतर पशु ही चित्रित किए गए हैं। ये शायद तावीज थे। इनमें खुदाई भी गहरी नहीं है। शायद ये पट्टियाँ कपड़े के अंदर सिली जाती थीं और आजकल की ही तरह गले या हाथ में बाँधी जाती थीं। सैकड़ों वर्ष बाद फिर बौद्ध धर्म के अनुयायियों में भी ऐसे ही तावीज प्रचलित दीख पड़ते हैं। बौद्ध-धर्म की एक प्रकार की पट्टियों के अंदर मंत्र भी लिखे जाते थे। बाद में ये पट्टियाँ कपड़े में लपेटकर बौद्ध तीर्थस्थानों में चढ़ाई जाती थीं†। संभवतः कुछ भिक्षु इन्हें गले या हाथ में भी बाँधते थे।

मोहेंजो दड़ो में एक ऐसा तावीज भी मिला है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ के निवासी गले में भी तावीज पहिनते थे। एक तावीज, जिसमें न तो कोई खुदान है और न कोई ठप्पे का काम, अवश्य गले में पहिना जाता था। इस तावीज के सिरे पर चार छिद्र बने हैं। इन छिद्रों में डोरी

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ३७६।

† हीरानंद शास्त्री—'नालंदा', पृ० ३५।

लगाकर तावीज गले में डाला जाता रहा होगा। किंतु इस प्रकार के तावीजों का प्रयोग सीमित था*।

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में कई स्थलों पर तावीजों का उल्लेख किया है—यथा रक्षाकरण्डकम्†, जयश्रियः वलयः‡।

प्राचीन काल के सभी देशों के लोगों का तावीजों में विश्वास था। किंतु जैसे जैसे मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करता गया, इन तावीजों की महत्ता भी घटती गई। फिर भी तावीजों पर विश्वास अभी संसार से उठा नहीं है। आजदिन भी यूरप, अरब, तथा मिस्र देश के निवासियों का तावीजों पर बड़ा विश्वास है।

सिंधु-प्रांत-निवासियों के बौद्धिक जीवन का कुछ पता नहीं है। उनके यहाँ कौन कौन सी विद्याएँ थीं तथा उनका जीवन दृष्टिकोण किस भाँति का था, इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये हमें तब तक रुकना पड़ेगा जब तक कि सिंधु लिपि शुद्ध शुद्ध पढ़ी नहीं जाती। मिट्टी की कुछ पतली तख्तियों से ज्ञात होता है कि ये लिखने की पाटियाँ थीं। इनकी लंबाई ४ से ७ इंच तक है। इनपर शायद किसी तरह की पालिश लगी थी। लिखने के बाद पाटियाँ धो दी जाती रही होंगी।

---

* आ० स० रि० १९३०-३४, पृ० १०८।

† अभिज्ञान शाकुंतल अंक ७।

‡ रघुवंश, १६, ७४।

यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है कि प्राचीन भारत में किस प्रकार की पट्टियों पर लिखा जाता था। बौद्ध काल में तो निस्संदेह लकड़ी की पट्टियाँ लिखने के लिये बनाई जाती थीं* । उधर गांधार शिल्प में अंकित एक मूर्त्ति में भगवान् बुद्ध एक समचतुरस्र लिपि-फलक पर लिखते दिखलाए गए हैं† ।

खेती के औजार सिंधु प्रांत में कम मिले हैं। संभवत: भूमि खोदने के बहुत से औजार लकड़ी ही के बनते थे। छिले हुए चकमक पत्थर का एक औजार दोनों ओर ढलुवाँ तथा बीच में ऊँचा है। यह शायद किसी हल की कील थी। वजन में भी यह औजार बहुत भारी है।

इतना सुसंस्कृत जीवन बिताते हुए यहाँ के लोगों के संबंध में यह सोचना स्वाभाविक है कि वे मेज, कुर्सी, पलंग, तख्त आदि से परिचित रहे होंगे। किंतु ये सभी वस्तुएँ लकड़ी की बनी होने के कारण आज इतने युगों के बाद अप्राप्य हो गई हैं। मिट्टी के खिलौने की दो कुर्सियाँ खुदाई में मिली हैं। एक मुद्रा पर कोई आकृति बैल के पैरोंवाली कुर्सी पर बैठी है। संभवतः इसी नमूने की कुर्सियाँ उस काल में बनती थीं। इनके अतिरिक्त तिपाइयाँ तथा तख्त भी सिंधु-प्रांत में बनते थे।

---

* कट्ठक जातक, नं० १२५।

† मजूमदार--ए गाईड टू दि स्कलपचर्स इन दि इंडियन म्यूजियम जि० २, (गांधार), पृ० २४६-४७।

आधुनिक फैशन के बीज मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा निवासियों के बीच उग चुके थे। स्त्रियाँ बालों पर पिनें लगाती थीं। पुरुष भी संभवतः बालों पर पिन लगाते थे। एक खिलौने पर पुरुष-आकृति बालों पर पिन लगाए हुए है। इन पिनों के सिरों पर कभी कभी पशुओं के सिर आदि बने रहते थे। स्त्री पुरुष दोनों लंबे बाल रखते तथा उन्हें कंघियों द्वारा सँवारते थे। कंघियाँ उस युग में लकड़ी की बनती थीं। हाथीदाँत की भी सुंदर कंघियाँ प्राप्त हुई हैं। एक कंघी के दोनों ओर सुंदर वृत्त बने हैं। मि० मैके को यह नौ अस्थिपंजरों के बीच मिली थी। मुड़ी हुई कंघियाँ भी बालों पर लगाई जाती थीं।

हड़प्पा में प्राप्त कुछ खिलौनों के शिरोवस्त्रों पर पुष्प लगे हैं। कालांतर में यही फैशन शुंगकालीन मृएमूर्त्तियों और कुषाण तथा गुप्त कालीन पत्थर की मूर्त्तियों में भी आया। आजकल भी दक्षिण भारत (महाराष्ट्र) तथा बंगाल में स्त्रियाँ सिर पर फूल लगाती हैं। कुछ आकृतियों से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ कभी कभी नुकीली टोपियाँ भी पहिनती थीं। नुकीला भाग सिर की एक ओर लटकता रहता था। ऐसी ही टोपी पुरुष-आकृतियों पर भी मिलती हैं। किंतु इसमें नुकीला भाग एक ओर सीधा है। एक फीता माथे पर लगाकर यह टोपी गिरने से बचाई जाती थी।

सिंधु-प्रांत की स्त्रियों के रहन-सहन के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। किंतु यह कहा जा सकता है कि सिंधु प्रांत

में पर्दे की प्रथा नहीं थी। मोहें जो दड़ो के किसी भी भवन से यह ज्ञात नहीं होता कि पर्दे के लिये किसी विशेष शैली के भवन बनाए गए थे।

वैदिक युग की सभ्यता से भी कहीं ज्ञात नहीं होता कि स्त्रियों को पर्दे में रखा जाता था। एक मंत्र में तो स्पष्ट है कि विवाह के उपरांत वधू का परिचय अतिथि लोगों से कराया जाता है; यथा—

सुमंगलीरियं वधूरिमा समेत पश्यत्
सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं वि परेतन*

पतली लकड़ी तथा घास की बुनाई भी संभवतः सिंधु-प्रांत में होती थी। यहाँ के निवासी निजी प्रयोग के लिये टोकरियाँ तथा अन्य बासन इन्हीं चीजों से बनाते होंगे। हड़प्पा में मिट्टी की एक छोटी टोकरी मिली है। समस्त सिंधु-प्रांत में यह अपने ढंग की प्रथम टोकरी है†।

सिंधु-प्रांत-निवासियों का सार्वजनिक जीवन कैसा था यह समस्या अभी अंधकार में है। हड़प्पा के कुछ सभाभवनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वहाँ के लोग सामूहिक जीवन से परिचित थे और पूजा उपासना के लिये संघ-रूप में एकत्रित भी होते थे। इस प्रकार के कमरे बहुत लंबे हैं

---

* ऋ० १०, ८५, ३३

† वत्स—य० ह०, पृ० ४५४।

और इनमें ईंटें भी ११×५.५×२.५ नाप की प्रयुक्त हुई हैं। कश्यप संहिता में वर्णित अग्नि-वेदी के लिये भी इसी नाप की ईंटें बनाई जाती थीं* ।

पूजा की कोई मूर्त्ति मोहें जो दड़ो में नहीं पाई गई है। किंतु अनेक मुद्राओं के दृश्यों से ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत में देवपूजा तथा लाक्षणिक पूजा प्रचलित थी। यह अवश्य माना जा सकता है कि मूर्त्तिपूजा किसी विशेष वर्ग के ही लोगों में प्रचलित थी। मिश्रित सभ्यता के नगरों में ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

ऋग्वेद युग में मूर्त्तिपूजा नहीं थी, यद्यपि अनेक विद्वानों ने वैदिक युग में मूर्त्तिपूजा का अस्तित्व बतलाया है। हवन और यज्ञों से संबंध रखनेवाले इतने विशद मंत्रों में केवल एक मंत्र में ही मूर्त्तिपूजा का संकेत मिलता है†—

क इमं दशाभिर्ममेन्द्र क्रीणाति धेनुभिः।
यदा वृत्राणि जङ्घनपदथैनं मेपुनर्ददत् ॥

भारतीय मूर्त्तिकला मोहें जो दड़ो काल के बाद न जाने किन किन परिस्थितियों में रही। आजकल तो हम भारतीय पूजन-मूर्त्ति-कला का जन्म ईसा की पहली शताब्दी से मानते हैं। किंतु दो एक उदाहरणों से जो कि अति संदेहजनक हैं,

---

* आर्य्यन पाथ, जुलाई १९२६, पृ० ३०९-१० ।

† ऋग्वेद, ४, २६, १० ।

भारतीय पूजनमूर्त्ति-कला का इतिहास ई० पू० ५वीं शताब्दी तक ढकेला गया है। अपने भ्रमण ग्रंथ में हुयेन-सांग लिखता है कि उसने कौशांबी में, बुद्ध भगवान् के जीवनकाल में ही अंकित, चंदन की एक बुद्ध-मूर्त्ति देखी थी*। इसी प्रकार खारवेल के हाथी गुम्फा लेख पर भी कलिंग के एक राजकुमार की लकड़ी में बनी मूर्त्ति का उल्लेख है†।

मोहें जो दड़ो नगर का इतना सुंदर प्रबंध किसी संस्था या समिति के ही द्वारा हो सकता था। मि० मैके का कहना है कि मोहें जो दड़ो एक गवनर (प्रतिनिधि) के अधीन था। कुछ प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सुविधा तथा सुचारु प्रबंध के लिये नगर को कई भागों में बाँटा गया था। प्रत्येक भाग के लिये एक एक रक्षक नियुक्त रहा करता था। इन रक्षकों के लिये सड़कों के कोनों पर मकान बने थे। एक सड़क के बीच दीवार बनाकर उसे दो भागों में विभाजित कर दिया गया है। इससे नगर के भिन्न भिन्न भागों में बाँटे जाने की पुष्टि हो जाती है। सड़कों पर रोशनी का भी प्रबंध रहता था।

स्थान स्थान पर कूड़ा रखने के लिये पीपों को रखना तथा नालियों को ठीक समय पर साफ करना, मकानों को ठीक स्थानों पर बनवाना, जल की सुंदर व्यवस्था तथा सड़कों का उचित

---

* बील बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑव दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० २३५।

† ज० बि० उ० रि० सो०, जिल्द ६, पृ० १७७।

निरीक्षण आदि बातों से ज्ञात होता है कि मोहें जो दड़ो में अवश्य कोई जानपद या म्यूनिसिपल बोर्ड था और यही संस्था नगर के स्वास्थ्य तथा सुभीते के लिये योजनाएँ बनाती थी* । यह बतलाना कठिन है कि शहर में कौन कौन से अफसर थे। किंतु इनमें शायद वे छः मुख्य अधिकारी रहे होंगे जिनका उल्लेख शुक्राचार्य ने शुक्रनीतिसार में किया है। या इस नगर में नगरपति कौटिल्य-वर्णित "नागरक" रहा हो। सफाई के लिये अवश्य कोई हेल्थ ऑफिसर नियुक्त रहा होगा। नगर की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये अनेक वैसे ही विधान रहे होंगे जिनका वर्णन धर्म-शास्त्रों में प्रायः मिला करता है।

मिस्टर मैके की धारणा का खंडन मिस्टर हंटर करते हैं। वह कहते हैं कि मोहें जो दड़ो में राजमहल के सदृश कोई इमारत नहीं। उनकी धारणा है कि मोहें जो दड़ो में कोई राजा नहीं था। यहाँ प्रजातंत्र सरकार थी। प्रजातंत्र सभा के सदस्य ही संभवतः शहर का प्रबंध भी करते रहे होंगे†। इस सभा में अनेक राजनीतिक दलों और मतों के अनुयायी तथा प्रतिनिधि रहे होंगे।

मकानों के पृथक् पृथक् भाग व्यापारिक सभ्यता का आभास देते हैं। मोहें जो दड़ो के एक भवन से मालूम होता है कि इसमें

---

* न्यू रिव्यू—सितम्बर १९३८, पृ० २४१।

† हंटर—'स्क्रुप्ट ऑव मोहें जो दड़ो ऐंड हड़प्पा', पृ० १३-१४।

एक बड़ी दूकान स्थित थी। इस भवन को कई भागों में बाँटा गया था। एक दूसरी इमारत तो देखने में बिल्कुल अन्न-भंडार की तरह है। बलूचिस्तान जाने के रास्ते की बस्तियों से ज्ञात होता है कि मोहें जो दड़ो एक व्यापारी नगर था।

फिर एक ही घर में पृथक् पृथक् परिवारों का रहना यह सूचित करता है कि नगर का सामाजिक जीवन भली भाँति सुसंगठित था। इससे यह भी मालूम होता है कि वहाँ के निवासी अधिकतर एक ही धर्म के अनुयायी थे। यदि उनमें कुछ धर्मभेद था भी तो उस भेद का सामाजिक जीवन पर प्रभाव न था*।

व्यापार की दशा दिखलानेवाली दूसरी वस्तु पत्थर के बटखरे हैं। इनके बनाने में बड़ी चतुरता से काम लिया गया है। संभवतः इन बटखरों की परीक्षा के लिये कोई अफसर नियुक्त था; क्योंकि इन बटखरों की तौल में जरा भी अंतर नहीं है। सब से अधिक बटखरे घन शैली के हैं। किंतु गोल और अन्य आकारों के बटखरे भी बनाए गए थे। एक बटखरे का (जो सिरे पर त्रिकोण है) वजन २५ पौंड है। इसके सिरे पर दो छिद्र हैं। इन छिद्रों में रस्सी डालकर यह बटखरा ऊपर को उठाया जाता रहा होगा†। ये बटखरे कई प्रकार के पत्थरों के

---

* 'गंगा', पुरातत्त्वांक, पृ० ६४।

† मैके—इं० सि०, पृ० १३४।

बने हैं, एक दो को छोड़कर किसी पर भी चिह्न नहीं दीख पड़ते। छोटे बटखरे जोड़ के (बाइनरी) और बड़े बटखरे दशमलव (डेसिमल) के आधार पर बनाए गए थे।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में अभी तक कोई सिक्के नहीं मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मिस्र तथा असीरिया की तरह सिंधु सभ्यता भी सिक्कों के प्रयोग से अनभिज्ञ थी।

नापने के लिये शायद पटरियाँ बनाई जाती थीं। एक घोंघे की पत्ती पर नाप के कुछ चिह्न बने हैं। ऐसे ही कई टुकड़ों को जोड़कर पटरी बनाई जाती रही होगी*।

ऐसा जान पड़ता है कि मोहें जो दड़ो की स्त्रियाँ चूहों के आतंक से दुखी थीं। इनको पकड़ने के लिये चूहेदानियाँ बनाई जाती थीं। इनके ऊपर तीन चार छिद्र करके उन पर लकड़ी या लोहे की सींकें डाली जाती थीं। लुढ़कने के डर से इनका तला समतल बनाया जाता था†। एक व्यापारिक नगर में, जहाँ सैकड़ों मन अनाज तथा रासन प्रति दिवस आती रही हो, चूहों का धावा करना स्वाभाविक ही है।

हाथीदाँत की मछलियों की आकृति की भी कुछ वस्तुएँ मोहें जो दड़ो में मिली हैं। इनमें कोई छिद्र नहीं है इसलिये इन्हें तावीज मानने में शंका होती है। अनेक घोंघे की सी विचित्र

---

* मैके—इं० सि०, पृ० १२६।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० ४२७।

वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। इनका क्या प्रयोग था, यह बतलाना कठिन है। किंतु बहुत सी वस्तुएँ लकड़ी के सामान के जोड़ों पर प्रयुक्त होती रही होंगी। शिमला, काश्मीर तथा अहमदाबाद के लकड़ी के सामानों में भी जोड़ों पर हाथीदाँत या हड्डियों के टुकड़े अभी तक लगाए जाते हैं।

मुद्राओं पर हाथी का प्रायः चित्रण दीख पड़ता है, और इस चित्रण के साथ तुलना करने पर सिंधु-प्रांत में हाथी की हड्डियाँ जो कम प्राप्त हुई हैं, उसमें अवश्य कुछ रहस्य है। सर जॉन मार्शल ठीक ही कहते हैं कि यदि हाथी सिंधु-प्रांत में पवित्र माना जाता था, तो इसको मारने का वहाँ पूर्ण निषेध था। जो कुछ हड्डियाँ प्राप्त हुई भी हैं वे संभवतः उन हाथियों के पंजरों से निकाली गई हैं, जिनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई है। हाथियों की मृत्यु के बाद ही दाँत निकाले जाते रहे होंगे।

भारत में हाथीदाँत के प्रयोग की प्राचीनता प्रसिद्ध है। बौद्ध काल में हाथीदाँत की वस्तुओं का एक सुंदर बाजार बनारस में भी था*। बाद को साँची स्तूप के एक विशाल द्वार को भी विदिशा नगरी के हाथीदाँत के विशेषज्ञों ने बनाया था।†

---

* देखिए—जातक, १,३२०।

† एपिग्रैफिका इंडिका जि० २, पृ० ९२।

चतुर्थ अध्याय

(२) रीति रस्म तथा जीवन

सिंधु प्रांत निवासियों का जीवन लड़ाई झगड़े का नहीं था। समस्त सिंधु प्रांत की प्राप्त वस्तुओं में आत्मरक्षा के हथियारों की कमी है। जो तलवारें मिली भी हैं उनकी नोकें पैनी नहीं हैं। इससे जान पड़ता है कि वे शरीर को बेधने के काम में नहीं आती थीं। बाणों के सिरे अवश्य पाए गए हैं। यदि आत्मरक्षा के लिये किन्हीं शस्त्रों का प्रयोग होता भी रहा हो तो वे धनुष बाण ही थे। फिर संभवतः अन्य देशों की तरह मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में किलेबंदियाँ भी थीं। नगर की रक्षा के लिये भी उस समय सरकार द्वारा नियुक्त कुछ रक्षक थे। इसके अतिरिक्त हम अनुमान करते हैं कि उस काल के लोग सहनशील तथा उदारचित्त भी थे और एक दूसरे के स्वत्वों का आदर करना जानते थे। इस उदारता का प्रमाण हमें इस बात से भी मिलता है कि कई मकानों में निजी कुएँ जन साधारण के लिये खोल दिए गए थे। घर की ओर ही केवल एक पतली दीवार पर्दे के लिये कुओं के निकट बना दी

जाती थी*। खुदाई में कहीं भी ढाल, कवच तथा शिरस्त्राण प्राप्त नहीं हुए हैं।

मोहें जो दड़ो में सफाई का सुंदर प्रबंध था, किंतु वहाँ के निवासी रोगों से मुक्त नहीं थे। आजकल ही की तरह सिंधु प्रांत निवासियों का यह विश्वास था कि ताबीजों या जादू-टोनों के द्वारा भी रोग दूर किए जा सकते हैं। ऋग्वेद युग के लोगों तक में विश्वास था कि कई रोग ताबीजों द्वारा दूर किए जा सकते हैं†।

यह बतलाना कठिन है कि मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में चिकित्सालय थे या नहीं। किंतु यह अनुमान किया जा सकता है कि उस काल में भी रोगियों की सेवा शुश्रूषा के लिये समुचित व्यवस्था थी। मानव धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा बौद्ध जातकों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में रोगों के उपचार के लिये चिकित्सालय‡ तथा अन्य प्रबंध थे§।

हड़प्पा में धातुओं के बने तीन औजारों का एक गुच्छा मिला हैं। ये सब एक छल्ले में बाँधे हुए हैं। इनमें एक चाकू दोनों ओर से काम देने वाला है। शायद यह चीर-

---

* आ० स० रि० १९३०-३४, पृ० १०३-०४।

† अथर्ववेद १, १७; १, २२; १, २३,२४।

‡ मनुस्मृति, पृ० ३९५।

§ अर्थशास्त्र, ४, प्रथम भाग।

फाड़ का कोई औजार रहा हो। किंतु इस ढंग के औजार अन्य देशों में शृंगार-विधान के काम आते थे।*

सिंधु प्रांत में औषधियाँ हड्डियों के चूर्ण से भी बनाई जाती थीं। मोहें जो दड़ो में चार प्रकार के हिरनों—काश्मीरी बारह-सिंगा, चीतल, सांभर तथा पारे के सींग प्राप्त हुए हैं। कर्नल सिवेल की धारणा है कि ये सींग इधर उधर से केवल औषधि बनाने के लिये मँगाए जाते थे। प्राचीन काल में बारहसिंगों के सींगों से नाना प्रकार की औषधियाँ बनाई जाती थीं। इन चार प्रकार के हिरनों में केवल पारा ही सिंधु प्रांत का निवासी था। पारा आजकल भी सिंधु प्रांत में पाया जाता है। अन्य तीन प्रकार के सींग तो सिंधु प्रांत से दूर देशों में पाए जाते हैं†। सिंधु प्रांत के ओथ भांजो बूथी नामक स्थान में मिट्टी के बर्तनों पर श्री मजूमदार को कटल मछली के अंदर की हड्डियाँ भी मिली हैं। यह पदार्थ जिसे 'समुद्रफेन' कहा जाता है आयुर्वेद की एक बड़ी गुणदायक औषधि है। डाक्टर वेणीप्रसाद के अनुसार यह औषधि कोष्ठबद्धता, आँख, कान, गले तथा चर्म के रोगों के लिये रामबाण औषधि है।

चट्टानों से निकाली जानेवाली शिलाजीत भी मोहें जो दड़ो में मिली है। आजकल भी पंजाब, काश्मीर तथा गढ़वाल

---

* वत्स—य० ह०, पृ० १४४।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २९।

के पर्वतों में से शिलाजीत निकाली जाती है। शिलाजीत के महत्त्व को सर्वप्रथम सिंधु प्रांत के निवासियों ने ही जाना होगा और वहीं की परंपरा आजदिन तक भारत में चली आ रही है।

इसके अतिरिक्त हरिताल का एक टुकड़ा भी हड़प्पा में मिला है। यह पदार्थ या तो जहर या कोई दवा बनाने के काम आता रहा होगा। कभी कभी यह ताम्र के बर्तनों या हथियारों के साफ करने में भी काम आता था*। यह नहीं कहा जा सकता कि इस पदार्थ का सिंधु प्रांत में वास्तविक प्रयोग क्या था।

महाकवि कालिदास के अनेक नाटकों से ज्ञात होता है कि हरिताल से तेल निकाला जाता था। इसके अतिरिक्त माथे पर तिलक या बिंदी लगाने के एक पदार्थ में भी हरिताल मिलाया जाता था†।

यह संभव है कि शारीरिक स्फूर्त्ति के लिये सिंधु प्रांत निवासी व्यायाम करते थे। हड़प्पा में प्राप्त एक विचित्र आकृति से ज्ञात होता है कि वह व्यायाम कर रही है। इसमें एक नग्न पुरुष खड़ा होकर पीछे की ओर दोनों हाथों को फेंके हुए है‡।

यह जानना कठिन है कि वास्तव में सिंधु प्रांत निवासी गणित, ज्योतिष तथा नक्षत्रशास्त्र से विज्ञ थे या नहीं। किंतु

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ८०।

† कुमारसंभव ६, २३।

‡ वत्स—य० ह०, पृ० २९५।

यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि यहाँ के निवासी मकानों को बनाते समय सदैव सूर्योदय की दिशा का ध्यान रखते थे। वे तारों की गति से भी दिशाओं को निर्धारित करते रहे होंगे। संभवत: उनके वर्षकाल का निर्णय सूर्य की गति से ही होता था। इसी निर्णय के अनुसार सिंधु प्रांत निवासियों को बाढ़ के आने का समय ज्ञात होता था*।

ऋग्वेद युग के लोग भी ज्योतिष तथा नक्षत्र शास्त्र से अभिज्ञ थे। उस काल में लोग तारों की गति से काल-विभाजन का निश्चय करते तथा अपने विभिन्न उत्सवों और त्योहारों के दिनों को नियत करते थे। दक्षिणायन उत्तरायण का उल्लेख भी। एक मंत्र में मिलता है†। वैसे ही निम्नलिखित मंत्र में उनके नक्षत्र-गति-ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है—

सदृशीरद्य सदृशारिदूश्वो दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम,
अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परियन्ति सद्यः।‡

१९३०-३१ ई० की खुदाई में मि० मैके को फर्शों के नीचे ताँबे के ढेर तथा अन्य कई मूल्यवान वस्तुएँ मिली थीं। शायद किसी भावी आक्रमण की आशंका के कारण लोगों ने जल्दी-जल्दी ये बर्तन गाड़ दिए थे, किंतु द्वंद्व में हत होने के कारण

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ३०।

† ऋग्वेद—१, १६४, १२।

‡ ऋग्वेद—१, २३, २६।

वे इन बर्तनों को फिर न निकाल सके। इधर उधर पड़े हुए अस्थि-पंजरों से भी धावे का आभास होता है। एक कुएँ की सीढ़ी पर दो पंजर पड़े थे। सबसे नीचे की सीढ़ी पर पड़े मनुष्य-पंजर से मालूम होता है कि वह मनुष्य पीछे ढकेला जाकर मरा था*। शरीर से अलग किए गए भी कुछ पंजर मिले हैं। संभवतः शत्रुओं द्वारा ही इनकी मृत्यु हुई थी। डा० गुह के अनुसार कुछ खोपड़ियाँ जली सी मालूम होती हैं। मि० मैके कहते हैं कि खतरे के निकट होने के कारण कुछ शरीर अच्छी तरह नहीं जलाए गए थे। संभवतः जल्दी जल्दी में चिता के लिये लकड़ियों का प्रबंध भी न हो सका था। केवल मृतक संस्कार को पूर्ण करने के लिये ही शरीर को अग्नि में रखना आवश्यक था।

मोहें जो दड़ो निवासियों को सीमाप्रांत की ओर से सदैव धावे की आशंका रहती थी। ऐसा जान पड़ता है कि अंतिम युग में इस नगर पर बलूचिस्तान की ओर से धावा किया गया था। किरथर पर्वत की पहाड़ियाँ मोहें जो दड़ो से कुल ३० मील की दूरी पर हैं। इन पहाड़ियों पर रहने वाली जातियों के लोग शीतकाल या अकाल के समय नीचे तलहटियों की उपजाऊ भूमि में उतरकर लूटपाट मचाते थे। मोहें जो दड़ो के अंतिम युग में बहुत से लोग इन्हीं शत्रुओं द्वारा मारे गए

---

* आ० स० रि०, १९३१-३२, पृ० ५४-५५।

होंगे। धावा करने वाले ऐसे लोग रहे होंगे जिन्हें मूर्त्तिपूजा से घृणा थी। धावों की आशंका अधिकतर अंतिम युग में रही होगी। इस समय नगर की रक्षा के लिये कोई साधन नहीं थे। प्रारंभिक तथा मध्य युग में मोहें जो दड़ो नगर की रक्षा का सुंदर प्रबंध था*।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि आत्मरक्षा के कोई भी हथियार मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में नहीं मिले हैं। नगर में अंतिम युग में न किलेबंदी थी और न रक्षा की कोई दीवार। श्री दीक्षित का अनुमान मान्य है कि सिंधु सभ्यता के लोप होने का कारण एक यह कमजोरी भी थी। वैसे तो कोई भी सभ्य-समाज या नगर बर्बर जातियों के प्रहारों से नहीं बच सकता है, किंतु जब स्वरक्षा की ओर कोई समाज या नगर ध्यान न देता हो तो शत्रुओं के सम्मुख उसका पुतलियों की तरह उड़ना बिल्कुल स्वाभाविक है। सिंधु प्रांत निवासी किसी भी प्रकार के युद्ध के योग्य नहीं थे और इसलिये वे शीघ्र ही मजबूत तथा पहाड़ी जातियों के द्वारा दबा दिए गए।

इसके अतिरिक्त सिंधु प्रांत निवासियों की हार का एक यह भी कारण था कि वे बहुत आरामतलब और बेफिक्री का जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन्हें भोजन आदि की तो चिंता थी नहीं।

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ६४७-४८।

अन्य जीवन की सुविधाएँ भी जब उन्हें उपलब्ध हो गईं, तो वे बड़े आराम का जीवन बिताने लगे। जब शत्रुओं ने उन पर आक्रमण किया तो वे किसी भी प्रकार से उनके साथ नहीं लड़ सके।

यह जानना आवश्यक है कि मोहें जो दड़ो सदृश नगर के जनसमुदाय में किस किस आ-जीविका और धर्म के लोग रहते थे। अब तक प्राप्त वस्तुओं से तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह नगर किसी देश की राजधानी था। यह प्रसिद्ध औद्योगिक केंद्र था और यहाँ भिन्न भिन्न आजीविकाओं तथा जातियों के लोग रहते थे। यह माना जा सकता है कि उच्च वर्ग के समाज में पुरोहित, वैद्य या डाक्टर, ज्योतिषी और जादूगर थे और निम्न वर्ग में मछुवे, मल्लाह, कृषक, वणिक, भिश्ती, गाड़ीवान, चरवाहे तथा कुम्हार थे*।

संभवतः उस युग में भी व्यापारियों ने अपने को एक 'गण' या 'श्रेणी' में संगठित कर रक्खा था। इस प्रकार 'गणों' के अधीन रह कर निर्धन मजदूर भी थोड़ा बहुत कमा लेते रहे होंगे। फिर भी यह कहना ही होगा कि मोहें जो दड़ो की सभ्यता में आर्थिक असमानता और विषमता थी। समाज का एक शोषित अंग भी था जिसकी भित्ति पर उच्च वर्ग स्थित था। यह असमानता भिन्न भिन्न प्रकार के आभूषणों से भी ज्ञात होती है।

---

* दीक्षित— प्री० सि० इं० वे०, पृ० ५७-५८।

मोहें जो दड़ो में उसके यश के दिनों में बड़ी चहलपहल रहती रही होगी। भिन्न भिन्न रूपों तथा वेश-भूषा के लोग इधर उधर दीख पड़ते रहे होंगे।

खेद है कि मिश्र तथा सुमेर निवासियों की तरह सिंधु प्रांत के निवासियों ने अपने मृतकों के शरीरों को तथा उनके साथ प्रतिदिवस काम में आनेवाली वस्तुओं को सुरक्षित रखने का प्रबंध नहीं किया। प्राचीन मिश्र निवासियों का विश्वास था कि मृत्यु के बाद भी मनुष्य या उसका एक भाग जिसको वे लोग 'का' कहते थे, दूसरे संसार में जीवित रहता है। आज उन मीलों तक फैले हुए बालू के मैदानों में स्थित पिरामिडों की ओर संसार के पुरातत्त्व-पंडितों की दृष्टि लगी है। इनके अंदर इतनी वस्तुएं प्राप्त हुई हैं कि पुरातत्वशास्त्री बिना कठिनाई के मिश्र के धार्मिक इतिहास का निर्माण कर सकते हैं। शायद मोहें जो दड़ो निवासी पुनर्जन्म के सिद्धांत को नहीं मानते थे। उन के धार्मिक विश्वास इससे बहुत भिन्न थे। जीवन और मृत्यु तक ही वे मनुष्य-जीवन का अभिनय समझते थे।

मोहें जो दड़ो में अभी तक कोई शव-स्थान नहीं मिला है। इस कारण उन लोगों के शव-संस्कार के विषय में हमारी जानकारी बहुत थोड़ी है। हड़प्पा में अवश्य एक शव-स्थान मिला है, किंतु सर जॉन मार्शल इसे बहुत बाद का बतलाते

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ३२।

चि० सं० २४ (अ)

चि० सं० १३

हैं (चि० सं० १३)। उनके अनुसार मोहें जो दड़ो की शव-संस्कार-प्रणालियाँ तीन प्रकार की थीं—

(१) जिसमें शरीर पूरा दफन किया जाता था,

(२) जिसमें हड्डी या शरीर के कुछ भागों को गाड़ा जाता था। और

(३) अस्थि-फूलों को गाड़ने की प्रणाली।

पहली प्रणाली के अंतर्गत इक्कीस पंजर हैं। चौदह पंजर एक कमरे में पाए गए हैं। इन पंजरों के साथ कोई मृतक-पात्र नहीं थे। इनके साथ कई आभूषण थे। मार्शल साहब कहते हैं कि इन लोगों की मृत्यु या तो अकाल, महामारी या अन्य किसी आकस्मिक दुर्घटना से हुई है। मृत्यु के थोड़ी देर बाद ये शरीर दफना दिए गए थे। ये कब्रें उस काल की हैं जब मोहें जो दड़ो नगर अवनति की ओर चल पड़ा था*।

हड़प्पा में भी पूर्ण शरीरों को दफनाया जाता था। यहाँ की कब्रों में मृतक-पात्र तथा अन्य सामान भी थे।

किंतु यहाँ के मिट्टी के बर्तनों पर की कारीगरी को देखने से पता लगता है कि ये शरीर सिंधु-सभ्यता के समकालीन नहीं हैं।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ८१-८२।

नाल तथा शाही टंप (बलूचिस्तान) में भी शव-संस्कार की ऐसी प्रथाएँ थीं*। वहाँ कुछ शरीर तो सुंदर बनाई गई कब्रों पर तथा कुछ मिट्टी के साधारण गड्ढों में रख दिए जाते थे। शाही टंप में मृतक का मुँह सदैव उत्तर की ओर किया जाता था। इन कब्रों में सिर तथा पैरों के निकट मिट्टी के बर्तन रखे थे। इन बर्तनों के अंदर जली राख तथा भेड़, बकरी की हड्डियाँ थीं। बकरी तथा भेड़ की हड्डियाँ हड़प्पा के शव स्थानों में भी मिलती हैं। और वहाँ एक स्थान पर तो एक बकरी का पंजर बिल्कुल मृतक के बराबर पड़ा था। ऋग्वेद के एक मंत्र में अग्नि का आह्वान किया जाता है कि वह बकरी का भक्षण करके मृतक शरीर को स्वर्ग ले जाय†। संभवतः यही विश्वास हड़प्पा निवासियों का भी था।

हड़प्पा की खुदाइयों से यह भी ज्ञात होता है कि मृतक शरीर को शवागार में निर्धारित दिशाओं में अर्थात् उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर रखा जाता था। यहाँ के पाँच उदाहरणों में पैर मोड़ दिए गए थे। किंतु जहाँ पूर्ण शरीर हैं वहाँ पैर बिल्कुल सीधे रखे गए थे। कुछ कब्रों में समाधि वस्तुएँ थीं, किंतु कुछ में तो एक भी मिट्टी का बर्तन नहीं था‡।

---

* आ० स० मे०, नं० ३५, पृ० २६।

† वत्स—य० ह०, पृ० २३७।

‡ वही, २२६-२७।

ऋग्वेद काल में भी पूर्ण शरीरों को दफनाने की प्रथा थी* । ऐसी प्रथा शतपथ ब्राह्मण काल तक चलती रही ।

दूसरी प्रणाली में शरीर को मृत्यु के बाद कुछ दिन तक खुले स्थान में छोड़ दिया जाता था । जब पक्षी शरीर के मांस को खा डालते थे, तो बची खुची हड्डियाँ कब्र में रख दी जाती थीं । ऐसा शवागार मोहें जो दड़ो के एक मकान के आँगन में था । इनके साथ साथ कुछ मिट्टी के बर्तन भी थे । किंतु तीन उदाहरणों में एक भी हड्डी नहीं थी† । एक बर्तन में एक टोकरी भर हड्डियों के साथ अनेक समाधि पात्र, खिलौने आदि आदि थे । जिन बर्तनों में हड्डियाँ नहीं हैं उनके लिये कहा जा सकता है, कि खुले स्थान में छोड़ने से शरीर की हड्डियाँ तक पशुओं ने खा डाली थीं । छोटी हड्डियाँ शायद घड़े के अंदर ही नष्ट हो गई थीं ।

हड़प्पा में भी इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी । किंतु इस प्रथा का आगमन वहाँ बाद को हुआ । इन हड्डियों के लिये बने घड़ों के अंदर कोई भी छोटे छोटे मिट्टी के बर्तन प्राप्त नहीं हुए हैं । वास्तव में श्री वत्स ने हड़प्पा में १०० घड़ों में से केवल एक घड़े पर एक छोटा बर्तन पाया था । कुछ घड़ों में खोपड़ियाँ तथा हड्डियाँ हैं । कुछ में केवल हड्डियाँ ही हैं । कुछ घड़ों पर तो एक भी हड्डी नहीं है ।

---

* ऋग्वेद, १०, ११, १८ ।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ८२ ।

बिल्कुल ऐसी ही प्रणाली नाल में भी थी। यहाँ की कब्रों पर तो केवल कुछ हड्डियों के टुकड़े थे। पूर्ण शरीर का पंजर किसी भी कब्र में नहीं पाया गया।

हड़प्पा में चौड़े मुँह के कई घड़े मिले हैं। इनमें शायद पूरे पंजर रखे जाते थे। युवक तथा वृद्ध शरीरों के पैंतीस पंजर, छः ऐसे पंजर जिनकी अवस्था अनिश्चित है, और इक्कीस बड़े बच्चों तथा ग्यारह छोटे बच्चों की हड्डियाँ इन घड़ों में थीं। इन घड़ों के इक्कीस उदाहरणों के अंदर तो केवल जमी मिट्टी थी। युवकों तथा वृद्धों के शरीर तो अवश्य ही खुली हवा में छोड़े गए थे*। बच्चों के शरीरों को शायद बाहर खुले स्थानों में नहीं छोड़ा जाता था।

एक स्थान पर पशुओं तथा मनुष्यों की हड्डियों का समूह पाया गया है। इसमें कई खोपड़ियाँ हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ मनुष्यों के सिर अलग किए गए थे। ये हड्डियाँ या तो ढेर के रूप में जान बूझ कर रखी गई थीं, या ये अकस्मात् एक दूसरे के ऊपर आ गई हैं। इनके साथ कोई गहने नहीं थे। यह बतलाना कठिन है कि ये दफनाई हड्डियाँ हैं, या किसी महान् आक्रमण से हत लोगों के शरीरों का ढेर हैं। पशुओं तथा समाधि के बर्तनों के साथ होने से यह कहा जा सकता है कि इनका शव-संस्कार अवश्य किया गया था†।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० १२९।

† —वही—पृ० २०२।

जिन घड़ों पर केवल राख, कोयला तथा हड्डियाँ हैं उनसे ज्ञात होता है कि शरीर को जलाने के बाद ये चीजें घड़ों में रख दी गई थीं। शायद शरीर को बहुत अच्छी तरह से जलाया जाता था और इसलिये अधिकतर हड्डियाँ भी अग्नि की लपटों में स्वाहा हो जाती थीं। किंतु पंजाब में एक दूसरी प्रणाली प्रचलित थी। पंजाब में आज भी यह प्रथा है कि शरीर को जलाने के चौथे दिन बाद चिता से हड्डियाँ इकट्ठी की जाकर धोई जाती हैं। इसके बाद इनका चूर्ण किया जाता है। यह चूर्ण फिर पवित्र नदियों में बहाया जाता है। शायद ऐसी ही कोई प्रथा प्राचीन सिंधु प्रांत में भी रही हो।

हड़प्पा के कुछ घड़ों पर (जिनके कि २३० उदाहरण प्राप्त हुए हैं) पशु पक्षियों तथा मछलियों की जली राख एवं हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं। केवल एक उदाहरण में मनुष्य की एक हड्डी मिली थी। इन घड़ों पर मनुष्य की आकृति तथा पशुओं के खिलौने, आभूषण, गुरियाँ, गाड़ियाँ आदि वस्तुएँ थीं। शायद जलाने के बाद कोई भी हड्डी नहीं बचती थी, किंतु फिर भी राख के साथ मृत मनुष्य के लिये घड़ों पर कुछ समाधि वस्तुएँ रख दी जाती थीं*।

बलूचिस्तान के डाबर कोट, पिरयानो घुंडई, मुगल घुंडई तथा सुकटागनडोर नामक स्थानों में भी हड़प्पा शैली के बड़े बड़े

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ८८।

घड़े मिले थे। ये स्थान सिंधु सभ्यता से विशेष प्रभावित हुए थे। इन घड़ों के अंदर भी वैसा ही समाधि का सामान था जैसा कि हड़प्पा के घड़ों पर पाया गया था। कुछ घड़ों में तो मनुष्य की हड्डियाँ थीं। किंतु कुछ में मनुष्य की एक भी हड्डी नहीं थी।

दीवारों के आधार पर ५४ घड़ों का एक समूह भी मिला है। इनमें दो घड़ों के अतिरिक्त सब खंडित अवस्था में हैं। इनमें मनुष्य की कोई हड्डी नहीं थी। शायद इन घड़ों पर केवल हड्डियों का चूर्ण ही रखा जाता था। इनपर पशुओं की हड्डियाँ, खिलौने, जला धान, कोयला, राख आदि वस्तुएँ पाई गई थीं*।

सर जॉन मार्शल की धारणा है कि सिंधु सभ्यता के यश-काल में वहाँ शरीर को जलाने की ही प्रथा थी। शरीर को खुला छोड़कर फिर कुछ दिन बाद हड्डियों को उठाकर दफनाने की प्रथा मोहें जो दड़ो में कम थी। किंतु हड़प्पा में इस ढंग की शव-संस्कार प्रणाली विशेष रूप से प्रचलित थी। हड़प्पा की प्रणाली मोहें जो दड़ो के बाद की है†।

ऐसा प्रतीत होता है कि मुर्दों को गाड़ने और जलाने की विधियाँ ऋग्वेद काल में भी थीं‡। किंतु ये दोनों प्रणालियाँ

---

* वत्स—य० ह०, पृ० १७५।

† वही—८६।

‡ मैन इन इंडिया, जिल्द १६, १९३६, पृ० २८५।

दो भिन्न भिन्न युगों की थीं*। कतिपय विद्वानों ने ऋग्वेद के मंत्रों को भिन्न भिन्न कालों में बाँटा है। मैक्समूलर ने ऋग्वेद को प्राचीन और नवीन भागों में विभाजित किया है†। ये शव प्रणालियाँ भी ऋग्वेद के भिन्न भिन्न कालों में प्रचलित रही होंगी।

इन शवस्थानों में भिन्न भिन्न दृश्यों तथा नमूनों से युक्त मिट्टी के बर्तन मिले हैं। इनसे उस काल के लोगों के सौंदर्य-प्रेम पर ही नहीं वरन उनके गंभीर धार्मिक तथा दूसरे जन्म-संबंधी विश्वास और विचारधाराओं पर भी अनूठा प्रकाश पड़ता है।

मोहें जो दड़ो में कौन सी लिपि और भाषा प्रचलित थी, यह प्रश्न भी विवाद-ग्रस्त है। श्री हंटर और प्रोफेसर लैंग्डन ने मुद्राओं तथा तावीजों पर खुदे चिह्नों का निरीक्षण किया है। यह पता नहीं कि उस काल में किस वस्तु पर लिखा जाता था। संभव है कि उस समय लकड़ी की तख्तियाँ या पटरियाँ, लिखने के लिये व्यवहृत होती रही हों।

संसार के प्राचीन देशों की तरह इस लिपि को भी कुछ विद्वान् चित्र-लिपि मानते हैं। यहाँ प्राप्त अनेक मुद्राओं के चिह्न सुमेर और मिस्र के चिह्नों की तरह हैं। मिस्टर हंटर तो यहाँ तक

---

* मैक्समूलर — ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४५७-४८३।

† 'मैन इन इंडिया'—जिल्द १६, १९३६, पृ० २८५।

कहते हैं कि सिंधु-लिपि पर आधा प्रभाव मेसोपोटेमिया का और आधा मिस्र का है। सिंधु-लिपि में थोड़े से पशु-पक्षियों के रूप के चिह्नों के अतिरिक्त अन्य बातें परंपरागत सी हैं।

यह संभव है कि ये सभी लिपियाँ एक ही स्रोत से निकली हों*। किंतु भिन्न भिन्न देशों में जाकर इनका रूप बदलता गया। आरंभ में अनेक देशों की लिपियों में समानता रही होगी; किंतु कुछ ही समय बाद लिपियों में परिवर्तन हो गया। श्री दीक्षित के विचार से सिंधु-लिपि भारत में स्वतंत्र रूप में फली-फूली†।

आश्चर्य होता है कि सुदूर प्रशांत महासागर में स्थित ईस्टर टापू में भी सिंधु-लिपि जैसी लिपि मिली है।

मिस्टर हंटर के अनुसार सिंधु-लिपि संकेतात्मक है और इसकी उत्पत्ति पदार्थ-चित्रों तथा साधारण चित्र-लिपि से हुई है। यह लिपि बाईं ओर से दाईं ओर को पढ़ी जाती थी किंतु कभी कभी यह दाईं से बाईं ओर को भी पढ़ी जाती होगी। इस लिपि की उत्पत्ति तृतीय सहस्राब्दी से बहुत पहले हो गई होगी।

प्रोफेसर लैंग्डन की धारणा है कि ब्राह्मी लिपि सिंधु-लिपि से निकली है। किंतु इन दोनों लिपियों के बीच अवश्य कोई

---

* हंटर 'स्क्रिप्ट ऑव मोहें जो दड़ो ऐंड हड़प्पा', पृ० ४६।

† दीक्षित प्री० सि० इं० व०, पृ० ४६।

लिपि रही होगी। स्व० डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल तो इनके बीच की लिपि को विक्रम खोल की लिपि मानते हैं।

कुछ विद्वान् इन मुद्राओं में द्राविड़ भाषा के कुछ चिह्न पाते हैं। बलूचिस्तान में 'ब्राहुई' जाति को पाकर इनका अनुमान है कि द्राविड़ पश्चिम एशिया से यहाँ आकर बसे थे। अनेक पंडित इस धारणा पर आपत्ति करते हैं। द्राविड़ भाषा का मूल ये लोग दक्षिण भारत में मानते हैं। ब्राहुई लोगों के विषय में कहा जा सकता है कि वे लोग दक्षिण भारत के समुद्र-तट के पश्चिमी देश के साथ होनेवाले व्यापार के सिलसिले में उत्तर-पश्चिम में जा बसे हों; और एक द्राविड़ उपनिवेश सूचित करते हों*। सिंधु-प्रांत की लिपि तीन भागों (१) अक्षरों (सिलेब्ल), (२) पदार्थ-चित्रों (आइडियोग्राम) और (३) निर्धारकों (डिटर्मिनेशन्स) में विभाजित रही होगी। प्रत्येक मुद्रा पर इन्हीं में से एक चिह्न रहता था। परंतु कई मुद्राओं पर ये तीनों चिह्न साथ हैं। चिह्नों द्वारा अर्थ को पूरा करने के लिये पदार्थ-चित्रों तथा निर्धारकों से सहायता ली जाती थी। प्रायः सभी चिह्न लिपि के अंत में हैं। जहाँ ऐसे चिह्न मध्य में हैं वहाँ शब्द-विभाजन हो जाता है। कुछ अंशों में तो चिह्न स्वयंबोधक हैं और कुछ में वे पदार्थ के अर्थ के बोधक हैं।

---

* जयचंद्र विद्यालंकार—'भारतभूमि और उसके निवासी,' पृ० २४०।

इन मुद्राओं पर क्या लिखा है, यह ज्ञात नहीं है। संभवत: इनपर किसी के नाम लिखे हैं। संभव है, कुछ मुद्राएँ व्यापार के गट्ठों पर लगी मिट्टी की पट्टियों पर छापी जाती रही हों। एक गट्ठे पर तो वास्तविक मुद्रा मिट्टी की मुद्रा के साथ चिपकी मिली थी।

भारत के प्राचीनतम सिक्कों—कार्षापणों–पर भी सिंधु-लिपि जैसे चिह्न अंकित हैं। ऐसा विदित होता है कि प्राचीन भारत की परंपरा ही के कारण ये चिह्न इन सिक्कों में आए हैं*। कतिपय विद्वानों जैसे जेम्स प्रिंसेप तथा विल्सन ने कहा है कि भारत में कार्षापण सिक्के या सिक्कों का प्रचलन यहाँ बाख्त्री यूनानियों के द्वारा हुआ। किंतु मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की मुद्राओं के कुछ चिह्नों तथा कार्षापण सिक्कों के चिह्नों की समानता देखकर ये धारणाएं सारहीन ठहरती हैं। ई० पू० दूसरी शताब्दी के मूर्तिकला के जो उदाहरण भारत में प्राप्त हुए हैं†, उनसे भी ज्ञात होता है कि इस शताब्दी में लोग कार्षापण सिक्कों से परिचित थे। कनिंघम ने इस संबंध में अनेक महत्त्व की तथा पांडित्यपूर्ण धारणाएँ पेश की हैं‡। वे पठनीय

* ज० ए० सो० बं०—न्यूमिस्मेटिक सप्लिमेंट फॉर १६३४; पृ० १६-१७।

† मजूमदार—'ए गाईड टू दि स्कलप्चर इन दि इंडियन म्यूजियम, भाग १, पृ० ४६।

‡ कनिंघम—क्वायन्स ऑव एंशंट इंडिया, पृ० ५२-५४।

हैं। इस प्रकार सिंधु प्रांत के कुछ चिह्नों की परंपरा बाद को कार्षापण सिक्कों में भी आई।

यहाँ पर यह बतलाना भी उचित है कि इस प्रकार के अनेक चिह्न असीरिया, मिस्र तथा स्कॉटलैंड में भी चित्रित किए गए थे। एक विद्वत्तापूर्ण लेख में मि० थियोबाल्ड ने ऐसे चिह्नों का प्रागैतिहासिक उद्गम घोषित किया है*।

---

* ज० ए० सो० बं०, १८९०, पृ० १८६-८७।

पंचम अध्याय

धर्म

चिरकाल से भारत धर्मप्रिय देश रहा है। यहाँ के आचार तथा विचार की भित्ति केवल धर्म पर खड़ी है। राजनीति, अर्थनीति, कला, साहित्य, सामाजिक विचार, पारस्परिक व्यवहार, सब इस देश में धर्म द्वारा शासित होते हैं। इस प्रकार भारत में धर्म ही जीवन है। सिलवेन लेवी ने ठीक ही लिखा है—"भारतभूमि में मानव परमात्मा में सने हुए हैं। ईश्वर को मनुष्य चाहे किसी भी रूप में पूजे, वह ईश्वर को देखता है, सुनता है। वह उसका एक अंश है और स्वयं ईश्वर में, अपने जीवन के प्रतिक्षण में, वर्त्तमान रहता है*।" यदि हम मोहें जो दड़ो तथा सिंधु सभ्यता को विशुद्ध हिंदू धर्म के अंतर्गत मानते हैं तो हमें यहाँ भी धर्म का दृढ़ प्रभाव देखना चाहिए।

किंतु समस्त सिंधु-प्रांत में एक भी ऐसी वस्तु प्राप्त नहीं हुई है जिसे कि हम स्पष्ट रूप से धार्मिक महत्त्व दे सकें। आज तक वस्तुओं का जो विश्लेषण विद्वानों ने किया है वह अनुमान तथा कल्पना के ही आधार पर। इन ५००० वर्षों में तो

---

* ओडेट्टी वुहल—इंडियन टेम्पल्स, पृ० ११।

कई नए संसारों तथा सभ्यताओं का अभिनय होता रहा है। और वर्त्तमान काल में ५००० वर्ष की प्राचीन वस्तुओं के वास्तविक रूप को जानना कठिन ही नहीं बहुत अंशों में असंभव भी है।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में मंदिर सदृश कोई इमारत नहीं मिली है। कुछ इमारतें, जो बनावट में असाधारण हैं, मंदिर मान ली गई हैं। श्री दीक्षित ने एक विचित्र इमारत को खोद निकाला था। इसका आँगन ६० फी० ६ इं० लंबा और ४७ फी० ४ इं० चौड़ा है। इस आँगन में तीन कुएँ हैं। श्री दीक्षित इस इमारत को मंदिर बतलाते हैं। इन कुओं से लोग पानी लेकर सर्वप्रथम अपने को शुद्ध करते रहे होंगे और तब मंदिर में प्रवेश करते रहे होंगे*। सर जॉन मार्शल भी कुछ भवनों को मंदिर बतलाते हैं। उनका कहना है कि मेसोपोटेमिया के कुछ मंदिर राजमहलों के ही सदृश थे†। शायद इसी ढंग के मंदिर मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में भी रहे हों।

सर जॉन मार्शल की एक धारणा यह भी है कि मोहें जो दड़ो में मंदिर लकड़ी के बनते थे‡। यह धारणा एकाएक मान्य नहीं हो सकती। जब मोहें जो दड़ो में विशाल से विशाल इमारतों के लिये सुंदर पकाई ईंटें प्रयुक्त हो सकती थीं

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २५२।

† वही, पृ० २१-२२।

‡ वही, पृ० २८४।

तो कोई कारण नहीं है कि मंदिरों के लिये भी यही ईंटें काम में न लाई जाती रही हों। हमारा अनुमान है कि यदि मोहें जो दड़ो में बड़े बड़े मंदिर नहीं थे, तो लोग मूर्तियों की स्थापना अपने भवनों के किसी कमरे में ही करते रहे होंगे।

प्राचीन काल के प्राय: सभी प्रमुख देशों में धर्म का उच्च स्थान था। मोहें जो दड़ो तथा सिंधु-प्रांत में भी धर्म का प्रभाव था। किंतु उनका दृष्टिकोण अधिकतर 'मतलब से मतलब' वाली उक्ति पर आधारित था। इसके अतिरिक्त यह भी माना जा सकता है कि मिस्र की तरह यहाँ अधिक पुरोहित-प्रभाव नहीं था या उन लोगों के राजा सुमेर के पुरोहित राजाओं की तरह नहीं थे*।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में एक प्रकार की मृण्मूर्त्तियाँ मिली हैं जिन्हें पुरातत्त्वशास्त्री मातृदेवी की मूर्त्तियाँ मानते हैं (चि० सं० ४, ५, ६)। इस वर्ग को सैकड़ों मूर्त्तियाँ सिंधु-प्रांत में पाई गई हैं। ये मूर्त्तियाँ प्राय: नग्न हैं। केवल वे कमर के नीचे एक पटका पहिने रहती हैं। इनके पैर बिल्कुल चिपटे हैं। पैरों की उँगलियाँ दिखलाने का इनमें कभी प्रयत्न नहीं किया गया। ये प्राय: आभूषणों से लदी हुई हैं। कई उदाहरणों में तो मालाएँ नाभि तक पहुँच गई हैं।

मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल में ईजियन से सिंधु-प्रांत के बीच के सभी देशों में जैसे इलम, फारस, मेसोपोटेमिया, ट्रैंस-

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ३३।

चि० सं० ५

कास्पिया, लघु एशिया, मिस्र तथा सीरिया में प्रचलित थी। इन देशों की मूर्त्तियों में इतनी विशिष्ट समानताएँ हैं कि यह धारणा स्वीकार करनी पड़नी है कि प्रागैतिहासिक युग में मातृपूजा का भूमध्यसागर से भारत तक प्रचार हुआ था*। बलूचिस्तान में भी कुछ मातृदेवी की मृण्मूर्त्तियाँ मिली हैं, किंतु यहाँ की मूर्त्तियों में सिर तथा धड़ ही बनाया जाता था। इनमें पैरों को न बनाकर कमर के नीचे एकदम चिपटा कर दिया गया है।

अधिकतर विद्वानों की धारणा है कि ये मूर्त्तियाँ माता प्रकृति की हैं। मातृदेवी की पूजा आदि के संबंध में कुछ विद्वानों का मत है कि एशिया माइनर के अनातोलिया प्रदेश की जो सबसे प्राचीन सभ्यता थी वहाँ से इस पूजा का प्रारंभ हुआ। यहीं से यह पूजा फिर संसार के और देशों में फैली।

मातृदेवी की पूजा की उत्पत्ति धरती माता की पूजा से ही हुई। प्रकृति ही संसार में मनुष्य का पालन पोषण करती है। मेसोपोटेमिया की कुछ पुस्तकों में प्रकृति को पृथ्वी की रानी कहा गया है। बेबीलोन की कुछ मुद्राओं पर मातृदेवी अनाज की बाल के डंठल के साथ दिखलाई गई है। मेसो-पोटेमिया के अन्य लेखों से ज्ञात होता है कि मातृदेवी नगर-

---

* इं० हि० क्वा०, सितंबर, १९३४, पृ० ४१४।

निवासियों की हर प्रकार की व्याधियों से रक्षा करती थी* । इन्हीं दृष्टि-कोणों से सिंधु प्रांत में भी मातृदेवी की पूजा होती रही होगी। फरात, टिगरिज, नील और सिंधु नदी के तट पर रहनेवाले लोगों की आजीविका बहुत कुछ खेती पर ही निर्भर थी। फिर यह स्वाभाविक है कि वे पोषण करनेवाली खेती की देवी या धरती माता की सर्वप्रथम पूजा करते थे।

'उपज' की देवी का चित्रण हम बाद की भारतीय कला में भी पाते हैं। साँची स्तूप के एक परिचक्र पर उपज की देवी का चित्रण है। फूलों से अंकित अर्ध परिचक्र के नीचे धनुषाकार द्वार पर कोई स्त्री खड़ी है। इसके नीचे दूसरा परिचक्र है। इस परिचक्र के कमल पर दोनों शाखाओं सहित एक अर्धनग्न स्त्री की आकृति है। सर जॉन मार्शल के मतानुसार यह लक्ष्मी या उपज की देवी का चित्रण है† ।

प्राचीन काल की सबसे अधिक प्रचलित देवी 'वासिनी' थी। इसका वर्णन गृह्य सूत्र में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण काल में श्री देवी प्रमुख हो गई थी। फिर पौराणिक हिंदू काल में मातृदेवी अन्य देवताओं की श्रेणी में स्थायी रूप से आ जाती है।

ऋग्वेद में मातृदेवी या महामाई के लिये अदिति, प्रकृति तथा पृथ्वी माता शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यथा अदिति के लिये

---

* 'कलकत्ता रिव्यू', जिल्द ३९. १९३१. पृ० २३०-२३१।

† मार्शल—'ए गाइड टु साँची', पृ० १४०।

चि० सं० ८

चि० सं० १०

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वेदेवा अदिति, पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥*

कुछ मंत्रों में वह मही माता, सुपुत्रा आदि नामों से संबोधित की गई है† । अदिति के रूप तथा गुण वैसे ही थे जैसे कि ब्राह्मण तथा पौराणिक साहित्य में वर्णित मातृदेवी के हैं । अदिति कभी कभी माता पृथ्वी भी कहलाती है । यथा—

(१) नमो मात्रे, पृथिव्यै, नमो मात्रे पृथिव्वै ।‡

(२) इयं पृथ्वी वै माता ।§

आजकल भारत में चंडी, दुर्गा, भवानी आदि आदि नामों से अनेक देवियाँ भारत के घर घर में पूजी जाती हैं। कुछ स्थानों में देवियों को रोग की उत्पादिकाएँ तक माना गया है । शीतला तथा संग्रहणी रोगों की देवियाँ वर्ष में एक बार अवश्य पूजी जाती हैं। गाँवों की अलग अलग ग्रामदेवियाँ भी होती हैं ।

एक दूसरे वर्ग की मृण्मूर्तियाँ वे हैं जिनमें भिन्न भिन्न दृश्य दिखलाए गए हैं (चि० नं० ८) । कुछ उदाहरणों में बच्चे स्त्रियों के

---

* ऋग्वेद १. ८९, १० ।

† इस विषय पर श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख जो 'इंडियन कल्चर' अप्रैल १९३८ की संख्या में प्रकाशित हुआ था, पठनीय है ।

‡ यजुर्वेद ९. २२ ।

§ तैत्तिरीय संहिता, २,८,६,१ ।

स्तन पान कर रहे हैं। गर्भवती स्त्रियों की मूर्त्तियाँ भी प्रायः खुदाई में प्राप्त हुई हैं। हड़प्पा से प्राप्त मिट्टी के एक मोटे तख्ते पर एक गर्भवती स्त्री लेटी है*। दूसरे उदाहरण में एक स्त्री अपने सिर पर किसी पात्र में रोटियाँ लिए हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मूर्त्तियाँ प्रायः मंदिरों में भेंट की जाती थीं और इसका ध्येय देवी देवताओं से पुत्र-वरदान माँगना था†। प्रकृति देवी का चित्रण हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर स्पष्ट है। इस मुद्रा में एक स्त्री के गर्भ से वृक्ष निकल रहा है। बाईं ओर ६ अक्षरों के लेख के बाद दो पशु हैं। इस मुद्रा की दूसरी ओर फिर वही लेख है। लेख की बाईं ओर एक पुरुष तथा स्त्री का चित्रण है। स्त्री दोनों हाथों को ऊपर उठाए बैठी है। पुरुष के दाएँ हाथ में हँसिए की तरह कोई वस्तु है। संभवतः मुद्रा की दूसरी ओर अंकित देवी को यह स्त्री बलि दी जा रही हो‡।

भीटा में प्राप्त बाद को एक मूर्त्ति पर भी ऐसे ही भाव का चित्रण है। इस मूर्त्ति में एक स्त्री के गले से कमल निकल रहा है§। कौशांबी से भी एक ऐसी ही मूर्त्ति प्राप्त हुई थी||।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ३०० ।

† मैके—इं० सि०, पृ० ८८-८९ ।

‡ मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ७० ।

§ आ० स० रि०, १९११-१२, प्ले० १३ चि० ४० ।

|| कलकत्ता म्यूजियम कैटलाग, जिल्द २, पृ० २९६ ।

चि० सं० २८ (च)
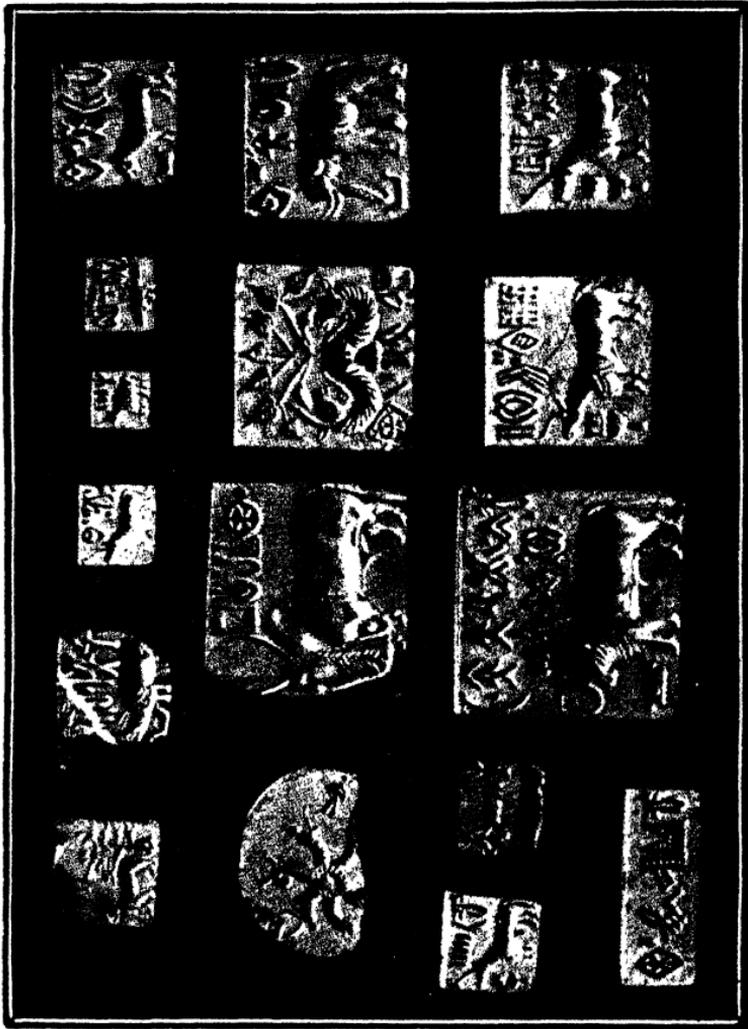
एक दूसरी फियांस की मुद्रा में एक स्त्री पलथी मारकर बैठी है। इसके दोनों ओर नागा पुजारी हैं। स्त्री के ऊपर पीपल की पत्तियों का चित्रण है। एक और बड़ी विचित्र मुद्रा मोहें जो दड़ो में प्राप्त हुई है। इसमें पीपल जैसे वृक्ष के तने से दो जुड़े हरिणों के सिर निकल रहे हैं।

मातृदेवी की मृण्मूर्त्तियाँ भारत में बहुत काल तक चलती रहीं। प्राक् मौर्य्य, मौर्य्य, शुंग तथा कुषाण काल की असंख्य मृण्मूर्त्तियाँ भारत क प्राचीन स्थानों से प्राप्त की गई हैं।

मि० मैके को एक ऐसी मुद्रा मिली थी जिसे पुरातत्त्व-पंडित प्रागैतिहासिक शिव का चित्रण मानते हैं [चि० २४ (अ)]। इस आकृति में शिव के तीन चेहरे हैं। हाथ दोनों ओर घुटनों के ऊपर रक्खे हैं और शिवजी पलथी मारकर पूर्ण योग की अवस्था में एक तिपाई पर बैठे हैं। तिपाई की दाईं ओर चीते तथा बाईं ओर गैंडे और भैंस का चित्रण है। ठीक शिवजी के सम्मुख द्विशृंगी हिरण खड़े हैं। कलाई से लेकर बाजुओं तक बाजू-बंद हैं। सिर पर दो सींग हैं जो सिरबंद से बंधे हैं। वक्ष पर कोई त्रिकोण ढंग का आभूषण सा है जो कई लड़ियों को जोड़कर बनाया जान पड़ता है। मुद्रा के ऊपरी भाग में सात शब्दों का एक लेख भी है*।

ऐतिहासिक युग में शिवजी की मूर्त्तियाँ प्रायः २, ३ तथा ४ मुखों की मिलती हैं। शिवजी की बाद की एक दर्शनीय त्रिमुख

* आ० स० रि०, १९२८-२९, पृ० ७४।

मूर्त्ति आबू पर्वत के निकट देवांगणा नामक स्थान में मिली है। यह आश्चर्य सा है कि भारतीय शिल्प की मध्यकालीन पूर्वी शाखा में शिवजी की एक, चार और पाँच मुखों वाली मूर्त्तियाँ ही मिली हैं। त्रिमुख मूर्त्ति का कोई उदाहरण इस शाखा में नहीं है*।

इस मुद्रा पर हम शिवजी के तीन ही मुख देखते हैं किंतु यह संभव है कि चौथा मुँह पीछे छिप गया हो। श्री मुकर्जी का कथन है कि यह शिवजी की पशुपति-रूप की आकृति है। उनका कहना है कि देवता के सिर पर जो सींग हैं वे त्रिशूल के द्योतक हैं†। श्री मुकर्जी ने इस देवता को पशुपति-रूप में इसलिये माना है कि इस देवता के सम्मुख पशु चित्रित किए गए हैं। किंतु सींगों को हम एकाएक त्रिशूल नहीं मान सकते। ऐसे सींग प्रायः मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में प्राप्त मुखारों पर भी दीख पड़ते हैं। प्राचीन काल में सींग धार्मिक प्रतीक समझे जाते थे। सुमेर, बेबीलोन तथा ईरान में तो पुरोहित और राजा सींगों को पहिनते थे। ये राजा उस काल में ईश्वर के अवतार माने जाते थे। मथुरा में भी बाद का, मेष के अंगों से अलंकृत, एक राजा का सिर मिला है। जान पड़ता है कि मथुरा की कला में यह भाव ईरान से लिया गया था‡। ऐसे ही दो

* बनर्जी—ईस्टर्न स्कूल ऑव मेडीवल स्कलपचर, पृ० ११०-११।

† मुकर्जी—हिस्ट्री ऑव हिंदू सिविलाईजेशन, पृ० २०।

‡ अग्रवाल—ए हैंडबुक ऑव दि मथुरा म्यूजियम (हिं०), नं० १८ (बी)।

सींग मोहें जो दड़ो में प्राप्त एक धातु की आकृति के भी हैं (चि० सं० २१)। संभवतः सिंधु-प्रांत के शिव के सींग भी किसी ऐसी ही धार्मिक भावना के प्रतीक हों। सर जॉन मार्शल कहते हैं कि ऐतिहासिक युग में आकर यही त्रिशृंग प्रतीक त्रिशूल के रूप में आया।

ऋग्वेद युग तथा उसके बाद के शिव के त्रिमुख रूप का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। वैदिक युग के बाद शिव को त्रिनयन (त्र्यंबक) अवश्य कहा गया है। त्र्यंबक का अर्थ शायद तीन माताओं वाला देवता है। मोहें जो दड़ो की शिव-आकृति में तीन देवताओं (जिनकी तीन अलग अलग माताएँ थीं) को एक करने का प्रयत्न किया गया है*।

सर जॉन मार्शल को इस मुद्रा के शिव में लिंग नहीं दिखाई पड़ा। किंतु ध्यान से देखने से पता लगता है कि आकृति के साथ ऊर्ध्व लिंग भी है। संस्कृत साहित्य की अनेक पुस्तकों में लिखा है कि शिव-मूर्त्तियों में ऊर्ध्व लिंग का होना आवश्यक है। ऊर्ध्व लिंग सहित शिवजी की अनेक मूर्त्तियाँ भारत के पूर्वी भाग, बिहार, उड़ीसा तथा बंगाल में मिलती हैं। लिंग-सहित शिवजी को पूजने की प्रथा शायद मोहें जो दड़ो निवासियों को ज्ञात थी†।

---

* ज० इं० सो० ओ० आ०, अगस्त-दिसंबर, १९३७, पृ० ७५।

† इंडियन कल्चर—अप्रैल १९३६, पृ० ७६७।

शिवजी की दूसरी मूर्त्ति एक ताम्रपट्ट पर अंकित है। इसमें भी भगवान् शिव योगासन साधे हुए हैं। शिवजी के दोनों ओर घुटनों के बल बैठे हुए दो भक्त हैं। दो घेरकर बैठे हुए सर्प सम्मुख बैठे हैं। यहाँ पर शिवजी का संबंध नागों से दिखलाया गया है। शिवजी अपने गले में सर्प धारण किए हुए हैं*।

एक दूसरी मुद्रा के दृश्य में एक शिकारी हाथ में धनुष बाण लिए है। श्री रामचंद्र दीक्षितार कहते हैं कि इसमें शिवजी शिकारी के रूप में दिखलाए गए हैं।

ऋग्वेद में हम रुद्र ही का वर्णन पाते हैं। इसमें रुद्र को विद्युत् माना गया है। वह पशु-पक्षियों को इधर-उधर मारा करता है। इसलिये रक्षा के हेतु सब पशु उसके अधीन छोड़ दिए जाते हैं। (अथववेद ११,६,९)। विद्युत् को लोग प्राय: एक पत्थर के टुकड़े के रूप में मानकर पूज लेते हैं। ब्लिंकनबर्ग ने यह प्रमाणित किया है कि ऐसे पत्थरों की पूजा संसार के कई भागों में होती थी। अभी तक भारत के दक्षिण भाग में भी ऐसे पत्थर पूजे जाते हैं। आश्चर्य है कि दक्षिण भारत में एक पत्थर के ऊपर त्रिशूल भी पड़ा था। विद्युत् के पत्थरों और लिंग के बीच बडी समानता है। मोहें जो दड़ो के लिंगों और इनकी समानताओं को देखकर मालूम होता है कि मोहें जो दड़ो में भी रुद्र की पूजा होती थी†।

---

* मौडर्न रिव्यू—जिल्द १२, पृ० १५७।

† इंडियन कल्चर--अप्रैल १९३६, पृ० ७५७।

मोहें जो दड़ो निवासी योग की प्रणालियों से भी परिचित थे। पुराण, तंत्र और वेद इन तीनों की दृष्टि से योग संप्रदाय एक अति प्राचीन संप्रदाय माना जाता है। प्राचीन योगशास्त्रों में लिखा है कि योग-साधन के लिये तीन वस्तुओं की आवश्यकता है—(१) ठीक आसन, (२) सीधा मस्तक, धड़ और ग्रीवा तथा (३) अर्द्धनिमीलित नेत्र, जो नासिका के अग्र भाग पर स्थिर हों। श्री रामप्रसाद चंदा के अनुसार मोहें जो दड़ो के पुजारी की मूर्त्ति योगासन का परिचय देती है*। इस मूर्त्ति में नेत्र खुले हुए और नाक की ओर स्थिर हैं। इस मूर्त्ति के अतिरिक्त कुछ मुद्राओं में भी योगासन के संकेत मिलते हैं। फियांस की मिट्टी पर एक आकृति चबूतरे या तिपाई पर बैठी है। इसके दोनों ओर हाथ जोड़े कुछ भक्त हैं, जिनके पीछे दो नाग फण को ऊपर किए हुए हैं। इस बीच में बैठी हुई आकृति के बैठने के ढंग से मालूम होता है कि यह कोई देवी है और योगासन से बैठी है। मोहें जो दड़ो के शिव को योगासन में हम पहिले ही देख चुके हैं। इनके अतिरिक्त लगभग छः मुद्राओं पर की आकृतियाँ योग की कायोत्सर्ग दशा को सूचित करती हैं। इनके खड़े होने के ढंग बिल्कुल वैसे ही हैं जैसे हम शास्त्रों में पाते हैं।

---

* आ० स० मे०, नं०, ४१, पृ०२१।

प्राचीन काल में परिव्राजक साधुओं का एक ऐसा समुदाय था जो किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता था। ये साधु जितेंद्रिय होते थे। आज दिन भी भारत के तीर्थस्थानों में कई प्रकार के योगी देखने में आते हैं। संभवतः यह परंपरा सिंधु-प्रांत से ही अब तक चली आ रही है। वायुपुराण के पाशुपत योग विषयक अध्यायों में योग की जिन दशाओं का वर्णन है उनमें और मोहें जो दड़ो में प्राप्त मूर्त्तियों तथा मुद्राओं पर अंकित आकृतियों के आसनों में बड़ी समानता है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रागैतिहासिक युग में जो योगी सिंधु-प्रांत में रहते थे, उनकी योग-साधना ही पाशुपत योग का प्रारंभिक रूप थी*।

कालांतर में बौद्ध और जैन धर्म के कारण योग का प्रचार बढ़ा। ये योग की दशाएँ इन धर्मों के उत्थान काल की मूर्त्तिकला में भी दिखाई पड़ती हैं। किंतु भारत में बुद्ध या जैन तीर्थंकरों की (केवल एक उदाहरण के अतिरिक्त) कोई भी मूर्त्तियाँ प्रथम शताब्दी तक नहीं बनीं। तब कैसे मोहें जो दड़ो तथा आरंभिक बौद्ध या जैनकालीन मूर्त्तियों में किस प्रकार शृंखला बाँधी जा सकती है? यह हो सकता है कि इस बीच किसी योग से अनभिज्ञ सभ्यता का बोलबाला रहा हो। इस सभ्यता के भी अवशेष हमें शायद निकट भविष्य में प्राप्त हो सकें।

---

* दीक्षितार—कल्याण, "योगांक", पृ० २३७।
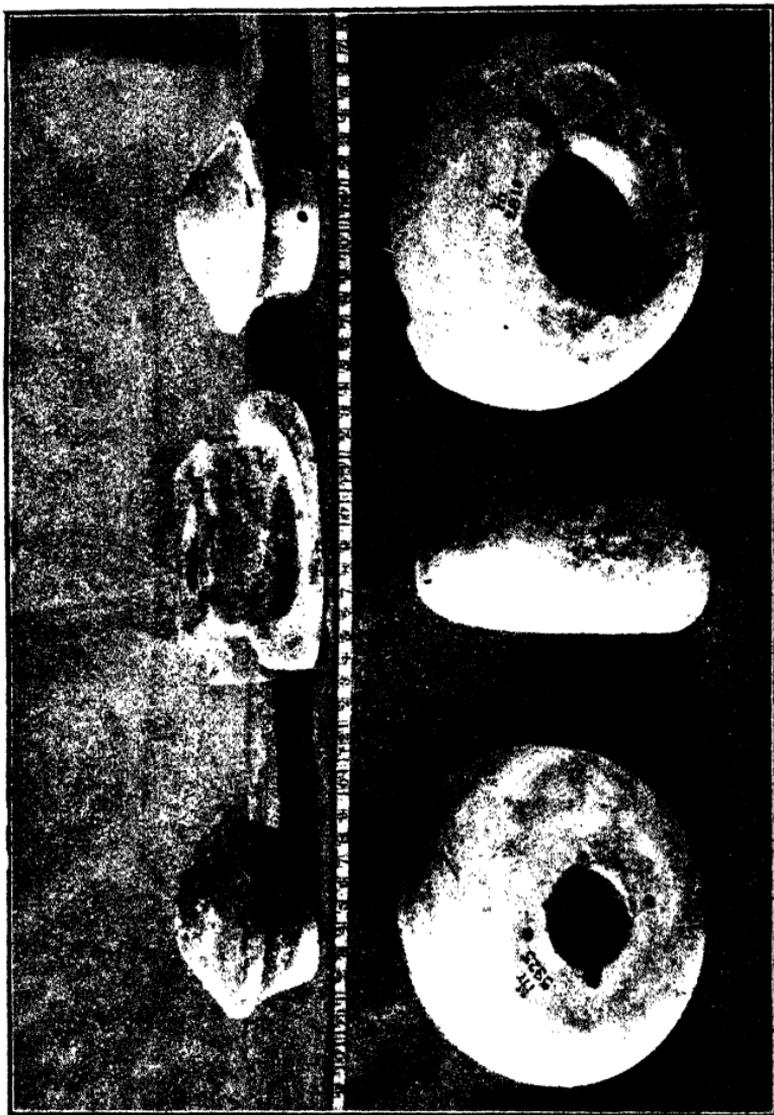
चि० सं० ६

मोहें जो दड़ो में लिंग के आकार की कई वस्तुएँ मिली हैं (चि० सं० ९)। हिंदू धर्म में भगवान् शिव और माता पार्वती केवल मनुष्य रूप ही में नहीं वरन् लिंग और योनि के प्रतीकों में भी पूजे जाते हैं। लिंग की उत्पत्ति का काल और स्थान हमें ज्ञात नहीं। मि० वार्थ कहते हैं कि किसी काल में देवताओं के प्रतीकों की खोज में अकस्मात् हिंदुओं को योनि और लिंग मिल गए। ऐसी आकस्मिक प्राप्ति उन लोगों के बीच जो ईश्वर को पुरुष और बैल के रूप में पूज सकते थे, अस्वाभाविक नहीं जान पड़ती*।

लिंग का वर्णन ऋग्वेद में भी है। पौराणिक साहित्य में यह शब्द विशद रूप में प्रयुक्त हुआ है। विष्णुपुराण में लिंग और योनि दोनों का वर्णन है। किंतु लिंग का प्रत्यक्ष वर्णन सर्वप्रथम रामायण में आता है। कहते हैं कि रावण ने स्वर्ण का एक लिंग बनवा रखा था और जहाँ भी वह जाता, इस लिंग को अपने साथ ले जाता था। महाभारत के कई स्थलों में लिंग का वर्णन आया है।

प्रागैतिहासिक युग पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि आर्य्यों से पहिले के लोगों में भी लिंगपूजा प्रचलित थी। इन लोगों के बीच में ये करामाती या धार्मिक प्रतीक समझकर पूजे जाते थे। भारत में ऐसे अनेक उदाहरण दक्षिण भारत में

---

* वार्थ—रिलिजन्स ऑव इंडिया, पृ० २६१।

पाए गए हैं। मि० फुट को नवीन पाषाण-युग का एक सुंदर लिंग दक्षिण भारत में प्राप्त हुआ था*। भारत में संभवतः आर्य्य लोगों ने यहाँ के मूल निवासियों से लिंग तथा इसके प्रतीकों के नाम लिए†।

ऐतिहासिक युग के या उससे भी कुछ पहिले के दो शिव-लिंग—एक गुड्डीमल्लम (दक्षिण भारत) में और दूसरा भीठा (प्रयाग) में—प्राप्त हुए हैं‡।

सर जॉन मार्शल ने मोहें जो दड़ो में पाए गए लिंगों को दो भागों-(१) फैलिक (लिंग) और (२) वेईटिलिक (सिरे पर नुकीले लिंग)—में विभाजित किया है। इनमें से कुछ लिंग तो ऐसे हैं जिनकी महत्ता के विषय में कुछ संदेह ही नहीं हो सकता। सर औरियल स्टाईन को बलूचिस्तान में भी कुछ लिंग मिले हैं। जान पड़ता है कि प्रस्तर-ताम्र-युग में संसार के कई देशों में लिंगोपासना प्रचलित थी। मिस्र, यूनान, रोम आदि देशों में बाल-पीट की पूजा होती थी। ये ईश्वर लिंग संप्रदाय से संबंध रखते हैं। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में बड़े लिंग तो साधारण या

* फुट—इंडियन प्रीहिस्टॉरिक ऐंड प्रोटोहिस्टॉरिक एंटिक्विटीज, पृ० ६१।

† इं० हि० क्वा०, मार्च १९३४, पृ० २२।

‡ गोपीनाथ राव—एलीमेन्ट्स ऑव हिंदू आईकनोग्राफी, पृ० ६३-६६।

चूने के पत्थर के बने हैं और छोटे लिंग प्रायः फियांस या घोंघे के हैं। इनकी ऊँचाई आध इंच से लेकर एक फुट तक है। कुछ लिंग तो इतने छोटे हैं कि उन्हें पाँसों के राजा मानने के अलावा उनका कोई दूसरा प्रयोग नहीं सूझता। किंतु बड़े लिंग निस्संदेह पूजा के लिये थे। सर जॉन मार्शल कहते हैं कि बड़े लिंग भिन्न भिन्न संप्रदायों के रहे होंगे और छोटे लिंगों को लोग प्रायः अपने ही पास रखते होंगे। छोटे लिंगों को लोग इधर उधर ले भी जा सकते थे।

वेईटिलिक लिंग कई आकारों में हैं। कई तो ३ फुट ३ इंच ऊँचे हैं। आकार में तो ये आजकल प्रचलित लिंगों की ही तरह हैं, किंतु पहले वर्ग के लिंग देखने में अधिक सुंदर हैं। एशिया के पश्चिमी देशों में भी ऐसे ही लिंग पाए गए हैं। वेईटिलिक भी शुद्ध लिंग हैं। शैव धर्म जैसे जैसे बढ़ता गया वैसे वैसे वेईटिलिक लिंगों का रूप साधारण लिंगों के साथ मिलने लगा। इस कारण हम देखते हैं कि मध्य तथा आधुनिक काल के अधिकतर लिंग वेईटिलिक रूप के हैं*।

इनके अतिरिक्त मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में बीच में छिद्र सहित कुछ पत्थर के मंडल भी मिले हैं। इनका घेरा आध फुट से लेकर चार फुट तक है। बड़े मंडल तो पत्थर के तथा छोटे फियांस, घोंघे आदि के बने हैं। इन मंडलों के प्रयोग के विषय

---

* मार्शल—मो॰ इं॰ सि॰, पृ॰ ६१।

में भिन्न भिन्न धारणाएँ हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये स्तंभ आधार थे किंतु छोटे छोटे मंडल किस काम आते थे, इस बात का वे संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते। शायद इनमें से कुछ मंडल करामाती भी समझे जाते थे। यह विश्वास भारत के कुछ भागों में अभी तक चला आ रहा है। मलाबार तट पर तो इनका आज दिन भी अच्छा प्रचार है। इनको अपने पास रखना शुभ समझा जाता था। कुछ मंडल उस युग के लिंगों के गौरीपट्टम का काम भी देते थे।

सर जॉन मार्शल कहते हैं कि ये मंडल योनियाँ हैं। लिंगों के साथ योनियों का होना स्वाभाविक ही है। तक्षशिला में भी कुछ ऐसे मंडल मिले हैं। इन मंडलों के भीतरी भाग में उत्पत्ति की देवी का चित्रण है। इससे मालूम होता है कि ये मंडल मातृदेवी की उपासना से संबंध रखते थे। किसी समय शैव संप्रदाय के प्रभुत्व में लिंग तथा योनि की पूजा साथ साथ चलती रही होगी*।

यहाँ पर यह कहना भी उचित होगा कि सभी मंडल योनियाँ नहीं थे। इनमें कुछ उदाहरण अवश्य ऐसे हैं, जिनका प्रयोग ज्ञात नहीं हो सका है।

मोहें जो दड़ो से प्राप्त वस्तुओं से शाक्त धर्म के विषय में कुछ विशेष नहीं बतलाया जा सकता। भारत में यह संप्रदाय बड़ा प्राचीन है। शक्ति की उपासना आज भी भारत के

---

* मार्शल--मो० इं० सि०, पृ० ६३।

देवी देवताओं में उच्च तथा श्रेष्ठ स्थान रखती है। शाक्त धर्म की उत्पत्ति भी मातृदेवी संप्रदाय से संबंध रखती है*। अन्यत्र हम लिख चुके हैं कि एक मुद्रा में बकरे की बलि का दृश्य अंकित है। शक्ति-उपासना में बकरे की बलि का विशेष महत्त्व है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि सिंधु-प्रांत में शक्ति-उपासना भी प्रचलित थी। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की खुदाइयों से यह धारणा समूल नष्ट हो जाती है कि भारत में शाक्त धर्म का उदय यूनानी अथवा अन्य पाश्चात्य आक्रमणों के कारण हुआ था।

सिंधु-प्रांत में प्राप्त तावीजों, मुद्राओं तथा मिट्टी की पट्टियों में कई प्रकार के पशुओं का चित्रण है। विद्वानों की धारणा है कि ये पशु किसी धार्मिक भावना अथवा धार्मिक उद्देश्य से चित्रित किए गए हैं। सर जॉन मार्शल सिंधु-प्रांत की पशु-पूजा को तीन भागों में विभाजित करते हैं:—

(१) दंती पशुओं की पूजा।

(२) कुछ दंती पशु, जिनकी उत्पत्ति तथा महत्त्व विशेष रूप से ज्ञात नहीं है।

(३) वास्तविक पशुओं की पूजा।

प्रथम वर्ग के पशु बड़े कौतूहलप्रद हैं। इनमें पशुओं के वास्तविक अंग-प्रत्यंग नहीं दिखलाए गए हैं। यही बात मनुष्य-

---

* इं० हि० क्वा०, मार्च १९३२, पृ० ३९-४०।

आकृतियों के विषय में भी है। किसी में चेहरा तो बकरी की तरह, किंतु धड़ और पैर मनुष्य की तरह दिखलाए गए हैं। कुछ में चेहरे तो मनुष्य के से हैं, किंतु शरीर बैल, बकरी या हाथी के शरीर के अवयवों से बने हैं। एक मुद्रा में सिर तो बाघ का है किंतु इसकी पूँछ साँप जैसी है। इसके सिर पर तीन सींग हैं। किंतु ये सींग भी तीन भिन्न भिन्न पशुओं के मालूम होते हैं। एक दूसरी मुद्रा में नीलगाय, आल्प्स पर्वत के बकरे तथा एक-शृंगी पशु के सिर चित्रित किए गए हैं। एक मुद्रा में विचित्र दृश्य है। इसमें एक अर्द्ध मनुष्य तथा अर्द्ध पशु आकृति, एक-शृंगी बाघ पर आक्रमण कर रही है। सुमेरु-साहित्य में वर्णित 'इनकिदू' या ईवानी भी इसी तरह का था*।

सींगों का प्रयोग भी मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में होता था। इन दोनों स्थानों में नीलगाय के कई सींग प्राप्त हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सींगों को पूजने या प्रयोग करने की प्रणाली एक ही स्रोत से निकली है। नीलगाय अधिकतर इलम में पाई जाती हैं और यही स्थान शायद सींगों का उत्पत्तिस्थान भी रहा हो। सर जॉन मार्शल के अनुसार नीलगायें एक समय संसार के सब भागों में प्रचलित थीं।

एक बड़े स्तनोंवाली स्त्री-आकृति के सिर पर भी सींग जैसे मालूम होते हैं। किंतु यह संदेहजनक है। मि० मैके

* आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ९६।

तो कहते हैं कि इस आकृति के सिर पर शायद पक्षी बैठे हैं। यदि सचमुच इस आकृति के सिर पर सींग हैं, तो यह कहना होगा कि सिंधु-प्रांत में सींगोंवाली यह प्रथम स्त्री-आकृति है।

सींगों सहित अनेक पुरुष-मृण्मूर्त्तियाँ मिली हैं। एक मूर्त्ति कमर से नीचे टूटी हुई है। इसके गले में एक गले भर ऊँचा कालर की शकल का आभूषण है। सिर पर अब एक ही सींग रह गया है। दूसरे उदाहरण में सिर पर दो सुंदर ऊँचे सींग हैं। किंतु उनके ऊपरी भाग टूट गए हैं*। ये पुरुष-आकृतियाँ उस काल के देवता मानी जाती रही होंगी।

मोहें जो दड़ो में सींगों सहित तीन मुखौटे मिले हैं†। एक ताम्र पर अंकित मूर्त्ति भी सींग पहिने मिली है।

कुछ सभ्यताओं के लोगों का विश्वास था कि मनुष्य रूप में आने से पहिले देवता पशु रूप में ही पूजे जाते थे। कालांतर में जब पशु, पुरुष देवता का रूप धारण करने लगे, तो उनके चिह्न-स्वरूप केवल ये सींग ही रह गए। ये सींग उस समय किसी अद्भुत शक्ति के प्रतीक माने जाते थे।

दूसरे प्रकार की पशु-पूजा में अधिकतर एकशृंगी पशु हैं। यह पशु विशद रूप में सिंधु प्रांत की मुद्राओं पर चित्रित किया गया था। यह भी संभवतः कोई दंती पशु था, क्योंकि इसका

---

* वत्स—य० ह०, पृ० २६६।

† वही, पृ० २३२।

रूप कई मुद्राओं में भिन्न भिन्न दिखाई पड़ता है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि इस पशु के वास्तव में दो सींग थे, किंतु एक सीध में अंकन होने के कारण एक सींग दूसरे सींग के पीछे छिप गया है। यह धारणा मान्य नहीं हो सकती। सिंधु प्रांत में अनेक ऐसे भी पशु हैं जिनका चित्रण पार्श्विक ढंग में होने पर भी वे दोनों सींगों सहित चित्रित किए गए हैं। एकशृंगी पशु की पीठ पर जीन या अन्य कोई ऐसी ही वस्तु पड़ी रहती थी। इसके गले में कभी-कभी गोल छल्लों से बना कोई आभूषण भी रहता था। कुछ पशुओं के मुँह के आगे कोई लंब आधार या स्तंभ हैं, जिनके ऊपर धूपबत्ती जलाई जाती रही होगी। ये लंब आधार दो भागों में बनते थे। ऐसा जान पड़ता है कि लंब आधार स्वयं पूजा की अलग वस्तु थे। हड़प्पा में कुछ छोटी छोटी मुद्राएँ मिली हैं। इनमें केवल लंब आधार ही बने हैं। श्री वत्स की धारणा है कि लंब आधार एकशृंगी पशु के साथ आने के बहुत पहले से पूजे जाते थे।

इन स्तंभों की परंपरा मौर्य तथा शुंग काल तक अनवरत रूप से चलती रही*। कतिपय विद्वानों का कहना है कि अशोक-कालीन स्तंभों के बनाने की शैली फारस से आई। किंतु इस धारणा का अब कई प्रमाणों द्वारा खंडन हो गया है। ये स्तंभ बौद्ध लोगों ने तो लेखों के लिये बनाए, जैन लोगों ने इनको

---

* आ० स० मे०, नं० ३१ पृ० ३५।

दीपस्तंभ नाम दिया तथा वैष्णव संप्रदाय ने इन्हें गरुड़ध्वज नाम दिया*। कुछ स्तंभों के ऊपर तो कल्पवृक्ष भी रखे जाते थे†। इनके अतिरिक्त प्राचीन भारत में रण-स्तंभ, मान-स्तंभ, कीर्त्ति-स्तंभ आदि आदि भी थे। मोहें जो दड़ो की मुद्राओं पर इन स्तंभों के प्राप्त होने से इस बात की भी पुष्टि होती है कि प्राचीन भारत के निवासियों ने बिना किसी देश की सहायता से भिन्न भिन्न कार्यों के लिये स्तंभ बनाए थे।

कुछ स्तंभ आधारों पर शायद पशु भी रखे जाते थे। सर जॉन मार्शल ने सचमुच एक आधार के ऊपर रखे पिंजड़े पर एक पशु पाया था। संभवतः सिंधु-प्रांत-निवासियों को कई प्रकार के ऐसे स्तंभ विदित थे किंतु अदृढ़ पदार्थ के बने होने के कारण वे नष्ट हो गए हैं। ऐसे स्तंभों के ऊपर देवी देवताओं के वाहन भी रखे जाते रहे होंगे। दो मुद्राओं के ठप्पों में मनुष्य एक पंक्ति में दिखलाए गए हैं। इनके हाथ में एक एक स्तंभ हैं।

हरिण का चित्रण कम मुद्राओं पर हुआ है, यद्यपि सुमेर और इलम की अनेक मुद्राओं पर इसका चित्रण है। कहीं

* रूपम—जुलाई १९२२, पृ० ६६।

† वेसनगर से प्राप्त ऐसा एक दर्शनीय कल्पवृक्ष इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता के प्रवेश-कोष्ठ में प्रदर्शित है।

कहीं तो इस पशु की आकृति बिल्कुल बैल जैसी है। संभवतः यह पशु वेदों में वर्णित 'गोमृग' का ही संकेत देता है*।

फियांस की एक मुद्रा में एक नाग के सम्मुख कोई मनुष्य-आकृति झुकी सी दीख पड़ती है। खेद है कि खंडित अवस्था में होने के कारण इस मुद्रा में अन्य वस्तुएँ नष्ट हो गई हैं। दूसरी मुद्रा में एक आकृति तख्ती के ऊपर बैठी है। इस आकृति के दोनों ओर दो नागा पुजारी हैं। इन पुजारियों के पीछे फण उठाए एक एक नाग भी हैं। इस दृश्य से ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत में नागपूजा भी थी।

वेदों से नागपूजा के विषय में कुछ ज्ञात नहीं होता, किंतु सूत्रों के पूर्व के साहित्य में नाग-पूजा का बराबर वर्णन मिलता है।

वास्तविक पशुओं की पूजा में भैंस, भारतीय नीलगाय, ऋषभ, बैल, हाथी, गैंडा, बाघ तथा छोटे सींगोंवाले बैलों का चित्रण है। सर जॉन मार्शल की धारणा है कि प्रस्तर-ताम्र-युग में ये सब पशु पंजाब तथा सिंधु-प्रांत में थे। ये पशु या तो मुद्राओं या ताम्रपट्टियों पर अंकित हैं। कुछ खिलौने प्राकार-मूलों पर भी स्थित थे। ये संभवतः किसी संध्या या पूजा के कमरे में स्थापित किए जाते रहे होंगे। इन सब पशुओं का धार्मिक महत्त्व था।

सबसे प्रचलित पशु कूबड़ तथा बिना कूबड़ के बैल थे। इनका चित्रण अनेक मुद्राओं पर दीख पड़ता है। सिंधु-प्रांत

* आ० स० मे०, नं० ४८, पृ० ५२।

में बैल को सर्वत्र बड़ी सावधानी तथा कुशलता से बनाया गया है। इससे भी इसका असाधारण महत्त्व ज्ञात होता है। संभवतः यह पशु सिंधु-प्रांत में शिवजी का वाहन माना जाता था।

मोहें जो दड़ो में ताम्र का बना एक सुंदर किंतु विचित्र कूबड़दार बैल मिला है। इसका मुँह नीचे की ओर है। एक कान तथा सींग किसी कपड़े से बँधा है। यह ताम्र के एक समूचे टुकड़े से बनाया गया है। पशु एक गोल छल्ले के आकार पर स्थित है। कदाचित् इस छल्ले का भी कोई विशेष धार्मिक महत्त्व रहा हो? अनेक उदाहरणों में बैलों के गलों में मालाएँ पड़ी हैं।

छोटे सींगोंवाले बैलों का चित्रण या तो मुद्राओं पर हुआ है, या वे मिट्टी के खिलौनों के रूप में हैं। इनमें इस पशु का सिर सदैव नीचे की ओर तथा एक ओर मुड़ा रहता है। इसके मुँह के ढंग से ज्ञात होता है कि यह पशु किसी क्रोध की मुद्रा में है। शायद यह बैल किसी संहारकारी देवता का वाहन रहा हो*।

ऐसा ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत की किसी विशेष संस्कार-विधि में बैलों के खिलौने काम आते थे। मानसार में भी मिट्टी के बैल का वर्णन है†। मोहें जो दड़ो में एक अति सुंदर बैल का सिर प्राप्त हुआ है। इसके तले पर एक त्रिकोण

---

* माशल—मो० इं० सि०, पृ० ३८५।

† आचार्य्य (सं)—मानसार, ६३/१५-१७।

छिद्र है। अनुमानतः यह सिर किसी आधार पर टिकाया जाता रहा होगा। इस बैल के सींग तथा कान टूट गए हैं। किंतु यह मालूम हो ही जाता है कि वे अलग से बनाकर फिर पशु-शरीर में बने छिद्रों में डाले जाते थे*।

बैल का सिंधु प्रांत ही में नहीं वरन् संसार के सभी प्राचीन देशों में धार्मिक महत्त्व था। पश्चिम एशिया में देवताओं को लोग बैलों के रूप में पूजते थे। कुछ देशों में राजा तक सींगों को पहिनते थे। प्राचीन उर में भी बैल के कई उदाहरण मिले हैं। 'राजा की कब्र' में प्राप्त एक बाजे का सिर बैल जैसा बना है। यह सिर अंदर से तो लकड़ी का है, किंतु इसके ऊपर सोने की एक पतली चद्दर थी†। उर में ताम्र के भी कुछ बैल मिले हैं। ऐसा कहा जाता है कि उर में बैल द्वारपालों का काम देते थे। वहाँ के निवासियों का विश्वास था कि ये पशु अद्भुत शक्ति रखते हैं। इस कारण उनके द्वारपाल होने से कोई बुरी आत्माएँ भवनों के अंदर प्रवेश नहीं कर सकतीं। बौद्ध वेष्टनियों के प्रमुख द्वारों पर भी जो यक्ष यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ रखी जाती थीं वे भी इसी भावना तथा विश्वास से बनाई जाती थीं।

भैंसे का चित्रण कुछ मुद्राओं पर मिलता है। कई दृश्यों में वह मनुष्यों पर धावा करता दिखाई देता है। यह उस काल

---

* आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० १०७।

† गैड—हिस्ट्री ऑव मोनूमेंट्स इन उर, पृ० ३५।

में भी यम का वाहन या भैरव का दूत माना जाता रहा होगा। यह ज्ञात नहीं है कि यह पशु शिकार के काम आता था या केवल पवित्र ही माना जाता था।

कुछ पशुओं के सम्मुख तसला सा कोई बर्त्तन रखा है। यह तसला बैलों के आगे नहीं है। हड़प्पा से प्राप्त केवल एक उदाहरण में बैल के सम्मुख तसला है। फियांस की बनी एक मुद्रा पर बैल किसी तसले पर खाना खाता सा चित्रित है। समस्त सिंधु प्रांत की खुदाइयों में यही एक उदाहरण है जिसमें कि यह पशु झुककर तसले में रखा खाना खा रहा है*। सर जॉन मार्शल कहते हैं कि यह तसला इस बात का द्योतक है कि ये पशु पवित्र हैं और इसमें उनको भोग दिया जा रहा है। यह भी हो सकता है कि ये पशु क्रुद्ध प्रकृति के थे और इनको कीलों पर बाँधकर भोजन दिया जाता था। यह तसला प्रायः नीलगाय, गैंडा आदि पशुओं के आगे मिला है।

खुदाई में ऊँट की हड्डियाँ भी प्राप्त हुई हैं। परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ है कि मोहें जो दड़ो का ऊँट उसी जाति का था जिस जाति के ऊँट आज दिन भी शिवालिक की पहाड़ियों की ओर मिलते हैं।

हाथी का चित्रण भी कई ताम्रपट्टियों तथा मुद्राओं पर मिलता है। फियांस के बने हाथी के कोई खिलौने नहीं मिले

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ६३।

हैं। मिट्टी के कुछ उदाहरण प्राप्त हुए हैं और ताम्र में तो केवल एक ही उदाहरण है। हाथी भगवान् इंद्र का वाहन है। महात्मा बुद्ध भी अपनी माता के गर्भ में हाथी के रूप में ही अवतरित हुए थे। किंतु यह पता लगाना कठिन है कि सिंधु-प्रांत में हाथी का क्या महत्त्व था। आजकल हाथी विशेषतया भारत के दक्षिण तथा पूर्वी भागों में पाया जाता है, किंतु जब अनुकूल वायु थी तो हाथी भारत के उत्तर तथा पश्चिमी भाग में भी रहते रहे होंगे। नीलगाय का चित्रण भी बहुत हुआ है। इस पशु को भी पवित्र माना जाता रहा होगा। गैंडे के जितने भी उदाहरण मिले हैं वे बच्चों द्वारा बनाए गए हैं। यह पशु भी विशद रूप में चित्रित किया गया है और यह भी एक समय सिंधु-प्रांत में पाया जाता रहा होगा। कहीं कहीं इस पशु की खाल की झुर्रियाँ बड़ी सफाई के साथ दिखलाई गई हैं। घड़ियाल तथा मगर का चित्रण भी दीख पड़ता है; और हमारा अनुमान है कि ये दोनों पशु किसी नदी के देवी देवता से संबंधित थे। मकर गंगा का वाहन माना जाता है।

सिंधु प्रांत में बकरे भी होते थे। एक मुद्रा के ठप्पे पर मुड़े हुए सींगों का एक बकरा चित्रित है। इस पशु के गले में तीन मालाएँ भी हैं। यह अपने ढंग का प्रथम उदाहरण है जिसमें बकरे के गले में मालाएँ दिखलाई गई हैं*। इससे ज्ञात

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० १०७।

होता है कि सिंधु प्रांत में बकरा पवित्र माना जाता था। एक दूसरी मुद्रा में चित्रित आकृति में शरीर तो बकरे जैसा है, किंतु चेहरा मनुष्य का है। इस दृश्य का संबंध कदाचित् किसी वृक्ष-आत्मा से था*। हड़प्पा में प्राप्त एक बकरे का सिर किसी आधार पर स्थित है। इसकी दाढ़ी गहरी रेखाओं से दिखलाई गई है।

बड़े पशुओं के अतिरिक्त भेड़, गिलहरी, कुत्ते, मुर्गे, बंदर, तोता, भालू, बिल्ली तथा मोर से भी सिंधु प्रांत-निवासी परिचित थे। इनमें से प्रायः सभी पशु-पक्षी खिलौनों के रूप में हैं। मुद्राओं पर बहुत ही कम पक्षी दीख पड़ते हैं। बिल्ली की कई हड्डियाँ हड़प्पा में प्राप्त हुई हैं। मोहें जो दड़ो में बिल्ली का न तो कोई चित्रण मुद्राओं पर है और न कोई खिलौना ही मिला है। हड़प्पा में भी केवल एक उदाहरण है। श्री वत्स कहते हैं कि यह खरगोश का चित्रण भी हो सकता है। किंतु हड़प्पा-निवासी इस पशु से परिचित थे, यह वहाँ से प्राप्त हड्डियों से ज्ञात होता है†। मिश्र देश की दंतकथाओं में बिल्ली का बहुत वर्णन आया है। शायद आजकल ही की तरह सिंधु-प्रांत में भी बिल्लियों को लोग घरों में पालते थे। बंदर से भी

---

* आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० ६४।

† वत्स—य० ह०, पृ० ३०१।

सिंधु-प्रांत-निवासी भली भाँति परिचित थे (चि० सं० २२)। एक सुंदर उदाहरण में एक बंदर हाथ तथा पैरों से एक वृक्ष के तने को पकड़े है। अपनी कौतूहलप्रद क्रीड़ाओं के कारण बंदर बच्चों के लिये बहुत प्रिय रहा होगा। बौद्ध जातकों तथा महाकाव्यों में भी बंदर का प्रमुख भाग है। हमारी धारणा है कि प्रागैतिहासिक काल में इस पशु से लोगों का वैसा ही प्रेम तथा स्नेह था जैसा कि आजकल भी चला आ रहा है।

गिलहरी के फियांस में बने तीन अति सुंदर उदाहरण हड़प्पा में प्राप्त हुए हैं। इनके ऊपर नीले रंग की पालिश पर काली रेखाओं का चित्रण है। प्रत्येक उदाहरण में गिलहरी पंजों से दबाए हुए किसी फल को खा रही है। प्रस्तर-निर्मित एक नेवला भी हड़प्पा में प्राप्त हुआ है।

कुत्ते तथा शूकर आज दिन अपवित्र माने जाते हैं, किंतु प्राचीन काल में शायद उनका महत्त्व कुछ और ही था। कुत्ता तो आजकल ही की तरह अवश्य लोगों का प्रिय रहा होगा। यह शिकार खेलने तथा चौकसी करने के काम में भी आता रहा होगा। इस पशु के कई खिलौने ताम्र, पीतल तथा मिट्टी के मिले हैं। कुछ उदाहरणों में यह पशु गले में पट्टा जैसी कोई वस्तु पहने है। शूकर का चित्रण प्राचीन मिस्र की कब्रों पर भी मिलता है। मिस्र में ये पशु प्रायः खाद-उत्पादन के लिये खेतों में छोड़ दिए जाते थे। कभी कभी ये वहाँ चंद्रमा को बलि भी दिए

जाते थे*। सिंधु-प्रांत की खुदाइयों में शूकर के केवल जबड़े तथा दाँत प्राप्त हुए हैं। शायद पशु के सारे पंजर में ये दो चीजें ही कुछ काम की रही हों। किंतु आश्चर्य है कि सिंधु प्रांत में इस पशु की हड्डियों से बनी कोई वस्तु अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। बलूचिस्तान की तरह संभवतः यहाँ भी यह पशु केवल शिकार का पशु रहा हो†।

पक्षियों में मोर का चित्रण अधिकतर मिट्टी के बर्तनों पर ही दीख पड़ता है। प्राचीन भारत में मोर एक शकुन-सूचक पक्षी माना जाता था‡। यथा—

श्यामाश्येन शशघ्न मंजुल शिखी श्रीकर्ण चक्राह्वया।

....

फेंटःकुक्कुट पूर्ण कूट चटकाश्चोक्ता दिवा संचराः।

मोर के मांस का प्रयोग उस काल में शायद भोजन के लिये भी होता था। किसी समय समस्त मध्यदेश के लोग मोर के मांस को बहुत पसंद करते थे। सम्राट् अशोक के प्रथम शिलास्तंभ से ज्ञात होता है कि उस समय राज-पाकशाला के लिये प्रति दिवस दो मोर मारे जाते थे; किंतु स्मृति-साहित्य में इस पक्षी के मारने का सर्वथा निषेध है।

---

* ज० रॉ० ए० सो०, १९२८, पृ० ६०७-०८।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० २१०।

‡ बृहत्संहिता, ८८। १।

बतख के भी अनेक खिलौने सिंधु-प्रांत में मिले हैं। इनके पंख प्रायः खुले हुए हैं। ये पक्षी किसी आधार पर बैठे हैं। सुमेर में तो यह पक्षी मातृदेवी निनखरसग से संबंधित था। संभव है सिंधु-प्रांत की मातृदेवी से भी इस पक्षी का कोई संबंध रहा हो*।

खड़िया पत्थर के बने एक उलूक का खिलौना हड़प्पा में प्राप्त हुआ है। इसकी आँखों तथा कानों के स्थान में कोई खचित पदार्थ जड़े जाते थे। इसके पेटे में दो छिद्र हैं। शायद इस पक्षी के पैर अलग से जोड़े जाते थे। साँप का भी फियांस का बना एक उत्तम उदाहरण मिला है। इसकी रूप-रेखा बड़ी भव्य है†।

चारों ओर से कोरे गए खड़िया पत्थर का एक दर्शनीय पंखोंवाला पक्षी बनाया गया है। इस पक्षी के पंख और पैर अलग से जोड़े गए थे। पंखों के नीचे एक छिद्र है, जिसमें रस्सी डालकर पक्षी किसी आधार पर बँधा रहा करता होगा। इसके पंखों पर हरे और शरीर पर पीले रंग की पालिश थी‡।

कुछ पशु और चिह्न मुद्राओं या ताम्रपट्टियों पर हैं। एक मुद्रा में बाईं ओर सिर करके एक गरुड़ उड़ती दशा में दिख-

* एंटिक्विटी—दिसंबर १९३३, पृ० ४६७।

† वत्स—य० ह०, पृ० ३०३।

‡ मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ३०१।

लाया गया है। दूसरी ओर केवल एक साधारण + बना है। पक्षी की पूँछ तथा पंख गहरी खुदी रेखाओं से दिखलाए गए हैं। पंखों के ऊपर दोनों ओर दो साँप हैं। श्री वत्स के अनुसार यह प्रागैतिहासिक युग के भगवान् विष्णु का वाहन गरुड़ है। यह पक्षी प्रायः अपनी चोंच में साँपों को लपेटे हुए उड़ा करता है*। एक दूसरी विचित्र मुद्रा में एक किनारे पर तो घड़ियाल का चित्रण है किंतु दूसरे कोने का पशु ठीक ठीक नहीं पहचाना जा सका है। देखने में यह मेंढक सा मालूम होता है। यदि यह पशु वास्तव में मेंढक है तो कहना होगा कि समस्त सिंधु-प्रांत में यह अपने ढंग का प्रथम उदाहरण है जिसमें मेंढक का चित्रण है।

इस विशद पशु-चित्रण से ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत-निवासियों का पशु-पक्षी-विषयक ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था। मुद्राओं पर अधिकतर वे ही पशु चित्रित किए गए हैं जो गतिवान् और शक्तिशाली हैं। इन पशुओं में सभी धार्मिक महत्त्व वाले नहीं थे। कुछ पशु तो पूजे जाते, कुछ पवित्र माने जाते और कुछ केवल शौक के लिये पाले जाते थे। इन पशुओं के चित्र में शायद भिन्न भिन्न वाहनोंवाले देवताओं को एक करने का प्रयत्न किया गया था।

इन पशुओं के बीच कहीं भी गाय और घोड़े का चित्रण नहीं है। वैसे तो एक खिलौने से ज्ञात होता है कि वह घोड़ा

---

* वत्स—य० इ०, पृ० ३२४।

है*। इस खिलौने में पशु के कान टूट गए हैं। किंतु इसको घोड़ा मानने में शंका होती है ; क्योंकि घोड़े का एक भी और खिलौना नहीं मिला है। गाय वैदिक कालीन आर्यों की एक प्रकार की संपत्ति थी। इसी प्रकार घोड़ा भी संस्कारों और हवनों में विशेष स्थान रखता था। अश्वमेध यज्ञ तो बिना घोड़े के हो ही नहीं सकता था। फिर शेर का चित्रण भी किसी मुद्रा पर नहीं है। इलम तथा सुमेर की कई वस्तुओं पर शेर का चित्रण है। मोहें जो दड़ो तथा सुमेर की अनेक वस्तुओं में समानता है और इस कारण मोहें जो दड़ो में शेर का न होना आश्चर्य की बात है।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की अनेक मुद्राओं पर बाघ का चित्रण है। हड़प्पा की एक मुद्रा पर बाघ के मुँह के नीचे एक तसला सा रखा है। दूसरे उदाहरण में बाघ एक शिरीष के वृक्ष के नीचे है। यह पशु बड़ी लापरवाही के साथ बनाया हुआ है। विद्वानों का मत है कि हिंसक पशु होने के कारण कलाकार इस पशु का अच्छी तरह अध्ययन नहीं कर सके थे। कहा जाता है कि सिंधु-प्रांत के कलाकार पहिले पशु-पक्षियों का अध्ययन कर लेते थे और तब मुद्राओं या पट्टियों पर उनका चित्रण करते थे।

---

* आ० स० रि०, १९२८-२९, पृ० ७४।

क्या सिंधु-प्रांत में पशुबलि की प्रथा थी ? एक दो उदाहरणों से तो ऐसा प्रमाणित होता है। पीतल का बना एक सुंदर बकरा है, जो एक बर्तन के अंदर सुरक्षित अवस्था में पाया गया था*। इस बकरे का गला एक खूँटे से बँधा है। शाक्त धर्म में पशु-बलि आवश्यक है और यदि सिंधु-प्रांत में शाक्त धर्म का अस्तित्व था तो वहाँ पशुओं, विशेष कर बकरे की बलि अवश्य दी जाती रही होगी।

एक मुद्रा में किसी वृक्ष की झुकी टहनी के नीचे कोई देवी है। देवी के सम्मुख हाथ जोड़े एक मनुष्य घुटनों के बल झुका हुआ है। इसके पीछे एक बड़े आकार का बकरा है। यह बकरा या तो बलि दिया जा रहा है, या इसका देवी से परिचय कराया जा रहा है†। जहाँ तक संभव है, यह बलि का पशु नहीं है।

रा० ब० दयाराम साहनी ने हड़प्पा में पशुओं की हड्डियों का एक बड़ा ढेर प्राप्त किया था। इनमें भेड़, बैल, घोड़े आदि पशुओं की हड्डियाँ थीं। यह संभव है कि इस स्थान पर सामूहिक रूप से पशु-बलि दी गई रही हो‡।

---

* आ० स० रि०, १९३०, पृ० ३२।

† वत्स—य० ह०, पृ० १९५।

‡ आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ७९।

हड़प्पा के शवागारों में एक पंजर के साथ एक भेड़ या बकरी का पंजर पड़ा था। यह पशु शायद बलि किया गया था। इसके शरीर के भी कई टुकड़े कर दिए गए थे* ।

प्राचीन काल के लोगों का विश्वास था कि मृतक को बकरी ही परलोक का रास्ता बतला सकती है। बकरी सरलता के साथ पहाड़ तथा जंगल में स्वयं अच्छी तरह से रास्ता ढूँढ़ सकती थी।

यह कहना कठिन है कि मोहें जो दड़ो में नर-बलि की प्रथा थी या नहीं। एक मुद्रा (जिसका उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं) से तो ज्ञात होता है कि एक स्त्री किसी देवी को बलि दी जा रही है; किंतु यह केवल अनुमान ही है। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सिंधु-प्रांत में नर-बलि देवताओं को प्रसन्न करने के लिये दी जाती थी।

हड़प्पा में कुछ ऐसे पंजर प्राप्त हुए थे जिनमें सिर कटे जान पड़ते हैं। इनमें कुछ तो जान-बूझकर ढेर में रखे गए थे। इन मनुष्यों की मृत्यु कैसे हुई, यह बतलाना कठिन है। किंतु जहाँ तक संभव है, ये मनुष्य क्रूर तथा बबर जातियों द्वारा मारे गए थे। इनसे नर-बलि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

* वत्स—य० इ०, पृ० २२१।

ऋग्वेद में ४ यज्ञों—(१) राजसूय, (२) अश्वमेध, (३) पुरुषमेध तथा (४) सर्वमेध—का वर्णन है। इनमें से पुरुषमेध यज्ञ कभी किया गया था या नहीं, यह ज्ञात नहीं है। ऋग्वेद के केवल एक मंत्र से नरबलि पर कुछ प्रकाश पड़ता है*। कहा जाता है कि एक बार महाराज हरिश्चंद्र रोगग्रस्त हुए। आचार्य ने उन्हें बतलाया कि वरुण को अपने पुत्र की बलि देकर आप रोग से उन्मुक्त हो सकते हैं। यह समाचार सुनकर राजा का पुत्र रोहित वन में चला गया और शुनःशेफ को वहाँ से नरबलि के लिये लाया। यज्ञ-मंडप में जब अजीगर्त स्वयं शुनःशेफ को मारने के लिये उठा, तो अंतिम समय देखकर शुनःशेफ ने बड़ी करुणाजनक वाणी में भगवान् से रक्षा के लिये प्रार्थना की—

कस्य नून कतमस्या मृतानां मनामेह चारुदेवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेय मातरं च॥

किंतु भगवान के सच्चे भक्त कभी ऐसी आर्तवाणी अपने मुँह से नहीं निकालते। इसलिये नरबलि के इस उदाहरण पर भी संदेह होता है। ईगेलिंग महोदय का कहना ठीक था कि पुरुषमेध केवल एक संस्कार-विधि के वर्णन को पूर्ण करने के हेतु रखा गया था। कार्य रूप में यह कभी परिणत नहीं किया गया था†।

---

* ऋग्वेद—१, २४, १।

† सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ४४, भूमिका ४१।

नरबलि के बहुत ही कम उदाहरण बौद्ध जातक तथा ऐतिहासिक युग* के साहित्य में पाए जाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि नरबलि की प्रथा किसी युग में बर्बर जाति के लोगों के ही बीच प्रचलित रही होगी।

अनेक मुद्राओं तथा मिट्टी के बर्तनों पर वृक्ष या पत्तियों का चित्रण है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु-प्रांत-निवासी वृक्ष-पूजा में भी विश्वास रखते थे। श्री दीक्षित को मिट्टी की एक ऐसी पट्टी मिली थी जिसमें वृक्षपूजा का स्पष्ट चित्रण है†। इस पट्टी में एक ओर सिरे पर छः मनुष्य-आकृतियाँ खड़ी हैं। इनके नीचे बकरी द्वारा एक गाड़ी खींची जा रही है। दाईं ओर दो फाँकों में विभाजित एक वृक्ष है जिसके मध्य में कोई आकृति है। अनुमानतः यह आकृति वृक्ष की देवी है। ऊपर जो छः आकृतियाँ हैं वे संभवतः इस देवी के उपासक हैं।

एक दूसरी मुद्रा में वृक्ष की आत्मा का चित्रण है। वृक्ष, मुद्रा के दाएँ कोने पर, केवल दो टहनियों से दिखलाया

---

* गौड़वहो के अमर लेखक वाक्पति का कहना है कि यशोवर्म्मन् (दक्षिण-पूर्वी भागों में विजय-प्राप्ति के लिये जाते हुए, मिर्जापुर के निकट स्थित) विंध्यवासिनी देवी के मंदिर में, पूजा करने के हेतु टिके थे और इस मंदिर में विंध्यवासिनी देवी को नर-बलि दी जाती थी (देखिए, त्रिपाठी—हिस्ट्री ऑव कन्नौज, पृ० १९७)।

† आ० स० रि०, १९२४-२५, पृ० ६५।

गया है। ये टहनियाँ एक वृक्ष के अंदर से उत्पन्न हो रही हैं। इन टहनियों के मध्य में त्रिशूल-सदृश सींग धारण किए तथा बाजूबंद पहिने एक नग्न आकृति है। इसके सम्मुख फिर बाजूबंद पहिने तथा लंबे बाल धारण किए एक दूसरी त्रिशृंग आकृति है। आकृति के सींगों के बीच में पंख से मालूम देते हैं। सर जॉन मार्शल इसे दया का याचक कहते हैं। इस झुकी आकृति के पीछे एक पशु है जिसका मुँह तो मनुष्य जैसा है किंतु शरीर बैल तथा बकरे के समान है। मुद्रा के निम्न भाग में सात अन्य आकृतियाँ भी हैं। ये आकृतियाँ बालों को पीछे की ओर फेंके तथा घुटनों तक वस्त्र पहिने हैं। सर जॉन मार्शल की धारणा है कि इस मुद्रा की टहनियाँ पीपल के वृक्ष का संकेत करती हैं और उनके मध्य की आकृति वृक्ष की आत्मा है। निम्नभाग की सात आकृतियाँ देवी के दूत हैं*।

भारत में चिरकाल से वृक्षों में देवी-देवताओं की आत्माओं के अस्तित्व का विश्वास रहा है। ऐतिहासिक युग में भारुत तथा साँची की कला में, स्त्रियाँ प्रत्यक्ष रूप से वृक्षों के साथ दिखलाई गई हैं। इन वृक्षों के साथ जो स्त्रियाँ दिखलाई गई हैं वे अपने उमड़ते सौंदर्य में हैं। वे प्रायः नग्न हैं, केवल कमर में एक मेखला पड़ी हुई है†। प्राचीन काल में स्त्रियाँ देवियों

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ६३-६४।

† कुमारस्वामी—यक्शाज, पृ० ३२।

के रूप में थीं, किंतु साँची तथा भारुत की कला में स्त्रियों का स्थान उच्च नहीं था। वे इस कला में यक्ष-यक्षिणियों के रूप में दिखलाई गई हैं। इसका कारण शायद यह था कि बौद्ध धर्म का प्रचार अधिकतर ग्राम-समाज में था और ग्रामीण लोग यक्ष-यक्षिणियों के महत्त्व को भली भाँति जानते थे*।

कुछ मुद्राओं में ऐसे दृश्य हैं जिनमें वृक्ष वेष्टनियों से निकल रहे हैं। हड़प्पा में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं†। यहाँ से प्राप्त एक मुद्रा में शिरीष का वृक्ष एक वेष्टनी से घिरा हुआ है। दूसरे उदाहरण में वेष्टनी के अंदर एक वृक्ष है। यह वृक्ष एक छोटे चबूतरे पर खड़ा है। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि भारत के प्राचीनतम कार्षापण सिक्कों में भी अनेक वृक्ष वेष्टनी के अंदर दिखलाए गए हैं‡।

वेष्टनियों के अंदर पवित्र वस्तुओं को रखने की प्रथा बाद को भी भारत में चलती रही। पाली-साहित्य में वेष्टनी को पाकार (प्राकार) कहा गया है। इस प्राकार के अंदर कुछ वस्तुएँ, वृक्ष, मंदिर, किले या नगर रहते थे। इनमें से

---

* मजूमदार—ए गाईड टू दि स्कलपचर्स इन दि इंडियन म्यूजियम, जिल्द १, पृ० २४।

† वत्स – य० ह०, पृ० १३७।

‡ ऐलान—कैटलाग ऑव क्वायन्स इन एंशेंट इंडिया, भू० पृ० ३१।

कुछ वस्तुएँ कुड्य (दीवार) तथा पब्बत (पहाड़ियों) से भी घेरी जाती थीं* । बुद्ध भगवान के पवित्र अस्थिफूलों के स्तूप, सदैव भिन्न भिन्न शिल्पयुक्त वेष्टनियों से घिरे रहते थे ।

मोहें जो दड़ो से प्राप्त एक मुद्रा में एकश्रृंगी पशु के जुड़वाँ सिरों के बीच से नौ पीपल की पत्तियाँ निकल रही हैं । इससे भी ज्ञात होता है कि पीपल तथा एकश्रृंगी पशु सिंधु प्रांत में पवित्र समझे जाते थे ।

मोहें जो दड़ो, हड़प्पा तथा सिंधु-प्रांत के अनेक स्थानों में प्राप्त मुद्राओं पर पीपल के वृक्ष या पत्तियों का चित्रण मिलता है । प्राचीन काल में पीपल का विशेष धार्मिक महत्त्व था । अश्वत्थ वृक्ष, जो कालांतर में पीपल के नाम से प्रचलित हुआ, एक समय भारत के प्रमुख वृक्षों में था† । गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं— "मैं सब वृक्षों में पीपल हूँ" । ऋग्वेद के मंत्रों में लिखा है कि जो लोग 'अश्वत्थ' वृक्ष पर जल चढ़ाते हैं उन्हें स्वर्ग-प्राप्त होती है । पत्तों या वृक्षों की टहनियों को तोड़ने का भी सर्वथा निषेध है । किंतु जब कभी पूजा के लिये पत्तियाँ तोड़ी जाती हैं तो क्षमा के लिये कुछ मंत्र उच्चारित किये जाते हैं । तुलसी तथा बेल के पत्तों को तोड़ते समय आज भी मंत्र बोले जाते हैं और पत्तियाँ तोड़ने के बाद वृक्ष को सिर नवाया जाता है‡ ।

* दीघनिकाय—भा० १, ७८ ।

† वैदिक इंडेक्स— जिल्द २. पृ० ४३-४४ ।

‡ ज० रॉ० ए० सो० बं०, जिल्द १४, १९३०, पृ० ८५-९७ ।

भिन्न भिन्न देवताओं के लिये भिन्न भिन्न वृक्षों की पत्तियाँ काम आती हैं। शिवजी के लिये धतूरे की बेल चढ़ाई जाती है किंतु अन्य देवताओं के लिये यह कभी नहीं चढ़ाई जा सकती।

पीपल के वृक्ष के नीचे बुद्ध शाक्यमुनि ने परम ज्ञान प्राप्त किया था। पहिले तो इस वृक्ष के साथ बुद्ध-निर्वाण की घटना संबंधित थी, किंतु बाद में यह वृक्ष बुद्ध भगवान् के सारे जीवन से संबंध रखता दीख पड़ता है। भारुत की कला से यह बात स्पष्ट है*।

पीपल के अतिरिक्त मि० मैके को कुछ मुद्राओं पर नीम की पत्तियों का चित्रण भी मिला है†। नीम एक कीटाणु-नाशक वस्तु है। ऐसी भी धारणा है कि नीम के वृक्ष पर शीतला देवी का निवास है। चैत्र कृष्णा अष्टमी को नीम की पत्तियाँ शीतला देवी को चढ़ाई जाती हैं। संभवतः ऐसा ही कुछ विश्वास सिंधु-प्रांत-निवासियों का भी था। शायद यहाँ के लोग केले के वृक्ष से भी परिचित थे। कुछ मुद्राओं पर जो चौड़ी तथा अधखुली पत्तियाँ दिखलाई गई हैं वे केले की ही पत्तियाँ हैं। केला आज दिन भारत में शुभ अवसरों के समय प्रयोग में लाया जाता है। कुछ वस्तुओं पर बबूल का भी चित्रण है‡।

* बरुआ—भारुत, जिल्द २, पृ० ४८।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० ३४१।

‡ मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ३९०।

शिरीष तथा शीशम के वृक्ष भी सिंधु-प्रांत में किसी समय उगते थे। इनके पत्तों का चित्रण या तो स्वतंत्र मुद्राओं पर या हड़प्पा से प्राप्त बर्तनों पर दीख पड़ता है।

भारतीय धर्म तथा परंपराओं में वृक्ष की पत्तियाँ सदैव पूजा की वस्तु रही हैं। लोगों का एक विश्वास यह भी था कि वृक्षों पर देव, यक्ष, नाग, भूत-प्रेत तथा अप्सराओं का निवास है*। वृक्ष और वृक्ष-आत्माओं या देवियों का ऋग्वेद में विशेष विवरण नहीं है। किंतु इस संबंध में यत्र-तत्र कुछ संकेत मिल ही जाते हैं। इन संकेतों से भी ज्ञात होता है कि वृक्षों में प्रायः गंधर्व तथा अप्सराएँ निवास करती हैं†। मनुष्यों की तरह वृक्षों की शादियाँ तक की जाती हैं। १९३१ ई० में मि० मैके को एक तावीज मिली थी, जिसमें शायद वृक्ष-पाणिग्रहण का दृश्य अंकित है। इस तावीज में एक ओर कुछ आकृतियाँ तथा चित्र-लिपि चित्रित है। दूसरी ओर पलटने पर विचित्र दृश्य दिखाई देता है। इस तरफ बाईं ओर एक मनुष्य बैठा है और उसके नीचे एक बाघ है। बाघ की दाईं ओर दो मनुष्य पेड़ों को हाथों में लिए हुए हैं। या तो यह दृश्य वृक्ष-पाणिग्रहण का संकेत करता

---

* कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑव इंडिया ऐंड इंडोनीशियन आर्ट, पृ० ४१, ४७।

† मैकडोनल—वैदिक मिथौलॉजी, पृ० १५४।

है या ये दोनों मनुष्य वृक्ष को भूमि से उखाड़ रहे हैं। वृक्ष पर बैठी शायद वृक्षदेवी है*।

हिंदुओं की दृष्टि से अनेक वृक्ष अमर हैं। उनका विश्वास है कि युगों से ये वृक्ष चले आ रहे हैं और इनका कभी अंत नहीं होगा। जैसे कुछ वटवृक्ष प्रयाग, पुरी तथा जयपुर में हैं। इनके दर्शनार्थ प्रतिवर्ष सैकड़ों यात्री भारत के भिन्न भिन्न भागों से जाते हैं।

अनेक ऐसी मुद्राएँ तथा ताम्रपट्टियाँ हैं जिनमें चित्रित दृश्यों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। यह संभव है कि ये घटनाएँ किसी देवपुरुष या देवियों के जीवन से संबंध रखती हों। आजकल ही की तरह उस काल में भी देवगाथाएँ चलती रही होंगी। उन्हीं में वर्णित कुछ दृश्य इन मुद्राओं या ताम्रपट्टियों में भी आ गए हैं।

एक समचतुरस्र ताम्रपट्टी में संभवतः बेबीलोन की देव-गाथाओं में वर्णित कोई देवपुरुष है। आकृति के सिर पर दो सींग हैं, पीछे एक पूँछ है। दाएँ हाथ में वह एक धनुष को थामे है। ऐसा जान पड़ता है कि इस आकृति का शरीर पत्तों से ढका है। ऐसी भूषा शिकारियों के ही बीच प्रचलित होती है और संभवतः इस मुद्रा में भी किसी शिकारी देवपुरुष का चित्रण है†।

* आ० स० रि०, १९३०-३१, पृ० ६६।

† आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ९५।

एक मुद्रा में, एक मनुष्य बर्छी द्वारा एक भैंसे पर धावा कर रहा है। यह बर्छी विचित्र है। इस नमूने की कोई भी बर्छी सिंधु प्रांत में प्राप्त नहीं हुई है। इस धावे का क्या अर्थ है, यह बतलाना कठिन है। यदि धावा करनेवाला पुरुष कोई देवपुरुष नहीं है, तो यह कहना होगा कि सिंधु प्रांत में भैंसा पवित्र नहीं माना जाता था। यह भी संभव है कि भैंसा किसी विशेष संप्रदाय की पूजक वस्तु थी और इस पशु पर धावा करनेवाला एक ऐसा व्यक्ति है, जिसकी इस संप्रदाय के साथ शत्रुता थी*।

ऐसा ही अज्ञात दृश्य एक दूसरी मुद्रा पर भी है। इसमें एक ओर मचान पर बैठकर एक मनुष्य बाघ के सदृश किसी पशु पर धावा कर रहा है। वहीं पर पैरों के निम्न भाग के बल पर तिपाई पर योगासन की मुद्रा में कोई आकृति बैठी है। यह आकृति कलाई से पखुरे तक कड़े पहने है। ऊपर की ओर अहाते के अंदर एक बकरा है। निम्न भाग में एक खरगोश सा पशु है। मुद्रा को उलटने से दूसरी ओर विचित्र दृश्य दीख पड़ता है। इस ओर बैल तथा त्रिशूल सहित एक स्तंभ है। कोई देवपुरुष इस बैल की ओर मुँह किए हुए है। इस देवपुरुष के सम्मुख एक लकड़ी का दुमंजिला मकान भी है। यह संभवत: कोई मंदिर था। बैल और त्रिशूल के होने से तो यही ज्ञात होता है कि यह आकृति भगवान शिव की है†।

* आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० १६६।

† वत्स—य० ह०, पृ० १३०।

एक दूसरी मुद्रा में एक बलिष्ठ शरीर का देवपुरुष या पराक्रमी पुरुष, दो बाघों के साथ द्वंद्व कर रहा है। यह आकृति नग्न है। केवल कमर के पास एक पटका है। बाघों के मुँह खुले हैं। आकृति के सिर के ऊपर या तो कोई शिरस्त्राण था, या सिर के बाल ही विचित्र ढंग से बाँधे गए थे*। इसका ठीक स्वरूप भी ज्ञात नहीं हो सका है।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा के कुओं और स्नानागारों को देखकर विदित होता है कि सिंधु-प्रांत में जलपूजा का प्रचलन भी था। तुलनात्मक दृष्टि से हड़प्पा में बहुत ही कम कुएँ प्राप्त हुए हैं। ये स्नानागार तो निजी स्वच्छता के लिये बने रहे होंगे। किंतु यह भी संभव है कि पाठ-पूजा, संध्या तथा ध्यान से पहिले यह आवश्यक समझा जाता था कि लोग स्नान आदि से निवृत्त हो जायँ। आजकल भी भारत में जलपूजा प्रचलित है। गंगा, यमुना, भागीरथी, सरयू, चंद्रभागा इत्यादि नदियों के जल का विशेष धार्मिक महत्त्व है। प्रयाग की त्रिवेणी तथा हरिद्वार में हरिजी की पैंड़ी पर प्रतिवर्ष स्नान के मेले जुड़ते हैं। मोहें जो दड़ो में कुषाण-कालीन स्तूप के निकट संभवतः एक मंदिर दबा पड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्नानागार में स्नान करने के बाद लोग इस मंदिर में स्नान करने जाते थे। खुदाई करते समय इस स्नानागार में दो छोटे लिंग, नीले फियांस का एक बर्तन तथा कुछ ताम्र की पट्टियाँ प्राप्त हुई हैं।

* आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० ६३-६४।

सिंधु प्रांत में आज दिन भी जलपूजा की कुछ परंपराएँ हैं। यहाँ 'दरियापंथी' नाम का एक संप्रदाय है*। इस संप्रदाय के लोग नदी की पूजा करते हैं। नागपूजा में भी जल का विशिष्ट स्थान है। और हम पहिले देख ही चुके हैं कि सिंधु प्रांत में नागपूजा भी होती थी।

स्वस्तिका और यूनानी क्रूश का चित्रण भी मुद्राओं तथा पट्टियों में दीख पड़ता है। स्वस्तिका तथा चक्र सूर्य भगवान् के प्रतीक भी माने जाते हैं। श्री आपटे के अनुसार स्वस्तिका शुभ भाग्य का लक्षण है†। शायद सिंधु-प्रांत में भी किसी प्रकार की सूर्यपूजा प्रचलित रही हो। वैदिक दंतकथाओं में सूर्य भगवान् का विशेष स्थान है‡। स्वस्तिका और अग्नि का भी संबंध सूर्य ही के कारण था। वास्तव में पारसियों के एक प्राचीन अग्नि-मंदिर के प्रमुख द्वार पर स्वस्तिका का चिह्न बना था। इस मंदिर के तोरण पर सूर्य और चंद्रमा का भी चित्रण था§। एक समय स्वस्तिका का प्रतीक एशिया, यूरोप तथा अमेरिका में प्रचलित था। आजकल भी हिंदू दुकानदार इस चिह्न को अपने

* गजेटियर ऑव दि प्रोविंस ऑव सिंध, पृ० १६५।

† आपटे—ए संस्कृत डिक्शनरी, पृ० ११६१।

‡ विंटरनिट्ज़—ए हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जि० १, पृ० ७५।

§ ज० रॉ० ए० सो० बं०, जिल्द १४, १९३०, पृ० ६९५।

दरवाजों या बहियों के ऊपर बनाते हैं। सिंधु-प्रांत में इन चिह्नों का भी ऐसा ही धार्मिक महत्त्व था।*

मोहें जो दड़ो में पीतल की बनी नर्तकियों की मूर्तियाँ भी मिली हैं। एक नर्तकी को सन् १९२७ ई० में स्व० रा० ब० दयाराम साहनी ने प्राप्त किया था (चि० सं० ३-१,२)। इस नर्तकी के हाथ भाव अभिव्यक्त करने की मुद्रा में हैं। पैरों से मालूम होता है कि नर्तकी ताल के आधार पर नृत्य कर रही है। नर्तकी के हाथ कड़ों से भरे हैं और वह गले में एक हँसली पहने है। इस नर्तकी को देवदासी माना गया है। इसके चेहरे पर सचमुच घृणा का भाव है। यह देवदासी नग्न है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में देवदासियाँ नहीं थीं; क्योंकि इनका उल्लेख न तो जातकों में है और न कौटिल्य के अर्थशास्त्र में। इनका सर्वप्रथम उल्लेख महाकवि कालिदास के मेघदूत में मिलता है†। काश्मीर के गायक कवि कल्हण ने भी मंदिर की नर्तकी का उल्लेख किया है‡। जोगमारा गुफा-लेख में भी एक देवदासी का वर्णन है। इनसे

---

* स्वस्तिका के विषय में, मि० टॉमस विल्सन का लेख जो बोर्ड ऑव रीजेंट्स ऑव दि स्मिथसोनियन इंस्टीट्यूट की जून ३०,१८९४ की वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित है, विशेष पठनीय है।

† मेघदूत १,३५।

‡ राजतरंगिणी, अ० ४, पृ० ४१६-२४।

चि० सं० २ (१)

चि० सं० २ (२)

ज्ञात होता है कि देवदासियाँ ईसा के बाद की शताब्दियों में अनेक मंदिरों में वर्तमान थीं।

श्री दीक्षित जी के मतानुसार यह स्त्री नीग्रो जाति की है। उनके अनुसार इस जाति की स्त्रियाँ प्राय: नग्न ही रहा करती थीं। यह जाति सिंधु-प्रांत की जातियों से भिन्न थी*।

दूसरी मूर्ति मि० मैके को सन् १९३० ई० में प्राप्त हुई थी। यह पहली मूर्ति से कई बातों में भिन्न है। इन दोनों मूर्तियों में प्रत्येक का एक एक हाथ कड़ों से लदा है। दोनों के पैर आवश्यकता से अधिक लंबे बनाए गए हैं। किंतु मि० मैके द्वारा प्राप्त मूर्ति किसी आधार पर टिकी थी; क्योंकि उसके पैरों के नीचे अभी तक कुछ ऐसे चिह्न वर्तमान हैं। श्री साहनी द्वारा प्राप्त मूर्ति की रूपरेखा दूसरी मूर्ति से भव्यतर है†।

मिट्टी की बनी दो मूर्तियाँ भी नर्तकों की सी जान पड़ती हैं। इनमें पैर जिस दशा में दिखलाए गए हैं उनसे अनुमान होता है कि वे भी नृत्य कर रही हैं। ऐसा नृत्य या तो किसी विशेष संप्रदाय के लोगों के बीच प्रचलित था अथवा किसी संस्कार या कर्मकांड के अवसर पर होता था‡।

नृत्य के संकेत कुछ तावीजों पर भी मिलते हैं। फियांस के एक तावीज पर एक मनुष्य तो ढोल बजा रहा है और कुछ मनुष्य

---

* दीक्षित—प्री० मि० इं० वे०, पृ० २६।

† आ० स० रि०, १९३१-३२, पृ० ६०।

‡ मैके—फ० य० मो०, पृ० २६६।

नृत्य कर रहे हैं। इस नृत्य का संबंध अवश्य किसी संस्कार कर्म या अन्य विधि से होगा *।

भारत में नृत्य का इतिहास अति प्राचीन है। ऋग्वेद के कई मंत्रों से भी नृत्य पर प्रकाश पड़ता है।

यहाँ पर यह लिखना भी उचित होगा कि पीतल की बनी नर्तकियाँ शायद अथर्ववेद में वर्णित 'दासी' या संहिताओं में वर्णित 'शूद्रा' की तरह कोई दासपुत्रियाँ हों†।

क्या सिंधु-प्रांत में गायन-वादन का भी प्रचार था? ऐसी उच्च सभ्यता के समाज में ललित कलाओं का होना असंभव नहीं है। खेद है कि उर की खुदाइयों की तरह यहाँ कोई भी वाद्य प्राप्त नहीं हुए हैं। फियांस की एक मुद्रा पर ढोल सदृश कोई वस्तु है। इसको एक मनुष्य, जिसके चारों ओर और लोग हैं, बजाता दीख पड़ता है। हड़प्पा से प्राप्त एक दूसरे तावीज में बाघ के सम्मुख ढोल बजाए जाने का दृश्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में सिंधु प्रांत में ढोल के साथ साथ तार के वाद्य भी प्रचलित थे। दो मुद्राओं पर तो मृदंग की सी कोई वस्तु है। ढोल का सुंदर चित्रण एक दूसरी मुद्रा पर है। इसमें एक स्त्री ढोल को अपने बगल में दबाए हुए है। मुद्राओं तथा तावीजों पर कुछ ऐसी वस्तुओं का चित्रण है जिन्हें

---

* मैके—इं० सि०, पृ० ९३।

† अथर्ववेद ५, २२, ६। तैत्तिरीय संहिता, ७, ४, १६, ३।

वीणा माना जा सकता है। सिंधु प्रांत में कांसताल भी बजाया जाता था* ।

प्राचीन भारत में संगीत का उच्च स्थान था। ऋग्वेद के मंत्र स्वयं संगीतमय हैं। कहते हैं कि कैलाशपति भगवान् शंकर ने संगीत को बढ़ाया और नारद ने उसे संसार को बतलाया। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये संगीत बहुत बड़ा साधन है। संसार की कई जातियों ने इसे आत्मोन्नति तथा आध्यात्मिक ज्ञान के लिये अपनाया है। इसलिये संगीत का प्रायः धर्म ही से संबंध होता है।

यजुर्वेद संहिता तथा ब्राह्मण समाज में स्त्रियाँ संगीत से विशेष प्रेम करती दिखाई देती हैं। वे सदैव ऐसे व्यक्तियों से विवाह करने की इच्छा प्रकट करती हैं, जो संगीत से प्रेम रखता हो† । उस समय राजा तक संगीत में निपुण होते थे। मत्स्य-पुराण से ज्ञात होता है कि वृष्णिवंशज राजा तैत्तिरी ने अपनी पुत्री को संगीत और नृत्य सिखलाया था‡ ।

इस बिखरी सामग्री ही से हम सिंधु-प्रांत-निवासियों के धर्म के विषय में थोड़ा बहुत जान सकते हैं। इस प्रांत के निवासियों की तावीजों या जादू-टोनों पर विशेष श्रद्धा थी। इनपर शायद प्राक्कालीन देवी-देवताओं की जीवन-संबंधी घटनाएँ

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ३० ।

† तैत्तिरीय संहिता ६, १, ६५ ।

‡ मत्स्यपुराण ४४, ६२ ।

चित्रित हैं। यहाँ के निवासियों का जल, वृक्ष, मातृदेवी, शिव, नाग, लिंग तथा शक्ति की उपासना में विश्वास था। योग की परिपाटियों से भी वे अभिज्ञ थे। सिंधु-प्रांत में बाहर की कई जातियाँ बसती थीं; और हम मान सकते हैं कि सिंधु-प्रांत-निवासियों के धर्म में वैदेशिक तत्त्व भी रहे होंगे। कदाचित् यहाँ सांप्रदायिक पूजा भी होती रही हो।

साधारण पूजा के अतिरिक्त कुछ भक्तों ने योगबल द्वारा आध्यात्मिकता प्राप्त करने तथा अनंत ईश्वर तक पहुँचने का प्रयत्न किया होगा। सिंधु-प्रांत निवासियों ने इस प्रकार गहन चिंतन की ओर भी पग बढ़ाए थे।

आधुनिक हिंदू धर्म की प्रणालियों और विश्वासों के साथ सिंधु-प्रांत निवासियों की धार्मिक प्रणालियों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत निवासियों का वास्तविक धर्म हिंदू धर्म ही था और आज का हमारा धर्म भी संभवतः उसी मूल से आया है, यद्यपि समयानुसार वर्तमान हिंदू धर्म में परिवर्तन भी हो गए हैं।

षष्ठ अध्याय

कला-कौशल

जीवन में कला एक आवश्यक वस्तु है। केवल भोजन ही से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। उसे मानसिक तथा बौद्धिक भोजन की भी आवश्यकता होती है। सभ्यता के सभी युगों में कला का मनुष्य-जीवन से कुछ न कुछ संबंध अवश्य रहा है। जहाँ इसकी कमी रही है उस समाज को जंगली या बर्बर कहा गया है। इसी लिये तो भर्तृहरिजी ने भी कहा है—

> साहित्यसंगीतकलाविहीन:
>
> साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीन: ।

अर्थात् संगीत, साहित्य तथा कला-रहित मनुष्य बिना पूँछ के पशु के समान है।

हम देख चुके हैं कि सिंधु-प्रांत की सभ्यता अभ्युदय की पराकाष्ठा को पहुँची थी। उस काल के लोगों ने प्रति दिवस काम आनेवाली वस्तुओं तक में अपना उच्च सौंदर्य तथा कला-प्रेम दिखलाया था। मुद्राओं, तावीज़ों तथा दो चार मूर्तियों के आधार पर ही हमें सिंधु-प्रांत की कला का विवेचन करना होगा।

सिंधु-प्रांत में सैकड़ों मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनको तीन भागों में विभाजित किया गया है—

(१) बच्चों के खिलौने

(२) मंदिरों और देवताओं को भेंट की जानेवाली तथा पूजा की मृण्मूर्त्तियाँ

(३) खिलौने जो समाधियों में रखे जाते थे।

सिंधु-प्रांत की मृण्मूर्त्तियाँ अधिकतर कुरूप हैं और इन्हें एकाएक कला की वस्तुएँ मानने में संकोच होता है। किंतु फिर भी उनका वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है।

सिंधु-प्रांत में मातृदेवी की बहुत सी मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें आँखें कम चौड़ी हैं जो मिट्टी की पट्टियों से दिखलाई गई हैं। नाक प्रायः बाद में जोड़ी जाती थी। नाक के दोनों ओर मिट्टी दबाकर गाल बनाए जाते थे। कुछ मूर्तियों में नथुने नहीं दिखलाए गए हैं। ऐसी मूर्तियाँ प्रायः खड़ी तथा नग्न हैं। कमर से नीचे केवल एक छोटी धोती पहनी जाती थी और कभी कभी इस धोती के ऊपर एक मेखला पड़ी रहती थी। कुछ उदाहरणों में सिर पर पंखे की तरह विचित्र शिरोवस्त्र है। कुछ मूर्तियों के कानों की ओर प्याले जैसी वस्तुएँ हैं। इन प्यालों में घी या तेल की बत्ती जलाई जाती रही होगी; क्योंकि इन प्यालों पर आग की लपटों के चिह्न हैं*। ये प्याले भी किसी वस्तु से सिर पर बाँधे

* मैके—फ० य० मो०, पृ० २६०।

चि० मं० ३

चि० मं० ४

जाते रहे होंगे। पैर प्रायः जुड़े रहते थे। किसी भी उदाहरण में अँगुलियाँ नहीं दिखलाई गई हैं। अच्छी मूर्तियों में थोड़ा गड्ढा करके, फिर इसी गड्ढे पर मिट्टी की पत्ती रखी जाती थी। इस प्रकार इन मूर्तियों में होंठ तथा मुँह दिखलाए जाते थे। प्रायः सभी मूर्तियों में स्तन बहुत बड़े बनाए गए हैं। ऐतिहासिक युग की मूर्तिकला में भी स्त्रियों के विशाल स्तनों को महत्ता दी गई है और इस शैली की कतिपय विद्वानों ने तीव्र समालोचना भी की है।

पुरुष-आकृति की मृण्मूर्त्तियाँ प्रायः नग्न हैं (चि०सं० ३)। इन मूर्तियों में भी शिरोवस्त्र तथा आभूषण हैं। सिर के बाल प्रायः नारों से बाँधे जाते थे। सर जॉन मार्शल इन पुरुष-मूर्तियों को देवताओं की आकृतियाँ बतलाते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी मृण्मूर्त्तियाँ हैं जो बच्चों द्वारा बनाई गई हैं। ये लापरवाही से बनाई गई हैं और इस कारण इनका शिल्प अति साधारण है।

कुछ मृण्मूर्त्तियाँ मंदिरों में भेंट की जाती थीं। इस वर्ग की मूर्तियों में स्त्रियाँ बच्चों को स्तन पान कराती बनाई गई हैं। कुछ स्त्रियाँ गर्भवती और कुछ सिर पर रोटियाँ ले जाती हुई चित्रित की गई हैं।

सिंधु-प्रांत में इन मूर्तियों को बनाने का कोई ढाँचा प्राप्त नहीं हुआ है। केवल मुखारे ही ढाँचों में बनाए जाते थे। वास्तव में शुंग-काल से ही मृण्मूर्त्तियों के लिये ढाँचे बनने लगे।

पशुओं तथा पक्षियों के भी अनेक खिलौने सिंधु-प्रांत में प्राप्त हुए हैं। पत्थर और घोंघे के बने पशु कम हैं। घोंघे को काटना कठिन होता है और शायद इसी कारण सिंधु-प्रांत में घोंघे के पशु नहीं बनाए जाते थे। पीतल तथा ताम्र के बने खिलौने इने गिने ही हैं। किंतु इन धातुओं में अंकित पशुओं का सर्वथा यथार्थ चित्रण हुआ है। बैल तथा कुत्ते के कई सुंदर खिलौने प्राप्त हुए हैं। हंस के भी खिलौने बनते थे। इनपर भिन्न-भिन्न रंगों की पालिश की जाती थी। बतख का चित्रण भी भव्य है। मि० मैके इन बतखों की तुलना उर से प्राप्त बतखों से करते हैं। कछुए के भी तीन खिलौने प्राप्त हुए हैं। इनमें एक घोंघे का बना है।

पशुओं की आँखें बड़ी सुंदर बनाई गई हैं। यहाँ तक कि कौशल की दृष्टि से इन आँखों के बनाने में ही कलाकार अपनी सारी समझ और सूझ दिखला सके हैं* ।

प्रायः सभी खिलौने अच्छी तरह अग्नि में पकाए गए हैं। इनके ऊपर लाल तथा चिकनी पालिश की जाती थी। वस्त्र तथा आभूषण मिट्टी की पट्टियों से अलग बनाकर चिपकाए जाते थे। ये पट्टियाँ पहले खिलौनों पर लगा दी जाती थीं फिर वे औजारों से ठीक कर ली जाती थीं। आँखें बनाने के लिये पहिले साधारण छिद्र बनाए जाते थे। इन छिद्रों के

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, चित्र ३ (४, ११, १५, १७)।

अंदर पुतली दिखलाने के लिये मिट्टी की पट्टियाँ रखी जाती थीं। कुछ पशुओं की आँखों पर पत्थर की खचित वस्तु भी रखी जाती थी। मातृदेवी की अनेक मूर्तियाँ पीछे से चिपटी हैं और संभवत: वे दीवारों के सहारे बैठाई जाती थीं।

मृण्मूर्त्तियों को बनाने की विशद प्रथा संसार के सभी प्राचीन देशों में देखी जाती है। नौसौस में सर आर्थर इवेन्स को अनेक सुंदर मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई थीं। फिर साईप्रस, यूनान, मेसोपोटेमिया आदि देशों में भी ऐसे खिलौने मिले हैं। भास्कर शिल्प के उदाहरणों से सचमुच इनकी तुलना नहीं हो सकती किंतु जैसी आरामतलबी तथा कौतूहल-जनक कल्पनाओं से ये मूर्तियाँ बनी हैं वे अवश्य प्रशंसा के योग्य हैं।

भारत में ऐसे खिलौनों का इतिहास मोहें जो दड़ो काल से प्रारंभ होकर आज तक चला आ रहा है*। मौर्य, शुंग तथा गुप्त काल में अनेक सुंदर मृण्मूर्त्तियाँ बनीं। मौर्य युग के पूर्व के खिलौने दर्शनीय नहीं हैं पर मौर्य युग में खिलौनों में कुछ बारीकी आ गई थी। पटने में स्व० डा० जायसवाल को एक अति सुंदर, मौर्यकालीन स्त्री का धड़ प्राप्त हुआ था। इस धड़ की तुलना उन्होंने पटने की यक्षी से की है†। शुंग काल, मृण्मूर्त्ति-

* भारत के विभिन्न प्रांतों में लेखक ने आधुनिक मृण्मूर्त्तियों का अध्ययन कर यह धारणा स्थिर की है कि पूना तथा मथुरा में इस समय सर्वोत्तम मृण्मूर्त्तियाँ बनती हैं।

† ज० इ० सो० ओ० आ०, जुलाई १९३६, पृ० ३३।

कला का स्वर्ण युग माना जा सकता है। इस समय ढाँचों का प्रयोग होने लग गया था। इस काल की मूर्त्तियों में प्रतिदिवस दीख पड़नेवाले अनेक दृश्य चित्रित किए गए हैं। ये दृश्य केवल मृण्मूर्त्तियों तक ही सीमित नहीं थे। इस युग की जितनी भी मूर्तियाँ तथा अन्य वस्तुएँ बनी हैं उन सब में ऐसे दृश्य चित्रित किए गए हैं।

इन मृण्मूर्त्तियों से उस काल के जीवन तथा धार्मिक विश्वासों के विषय में हमको बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। माताओं तथा बच्चों के विशद चित्रण से मालूम होता है कि इन युगों में गृहस्थ-जीवन बड़ा सुखी था*।

इन मृण्मूर्त्तियों तथा पत्थर की मूर्तियों में भी समानताएँ हैं। कुषाण-काल में, पहले के वेदिकास्तंभों में अंकित स्त्रियों तथा शालभंजिकाओं की मिट्टी की प्रतिकृतियाँ बनाई गईं। तक्ष-शिला के भीर टीले से प्राप्त एक दूसरी मूर्ति की तुलना साँची के तोरण पर अंकित एक यक्षी से की जा सकती है। यह निर्विवाद है कि शुंगकाल की कई पत्थर की मूर्तियाँ प्रायः मौर्य युग की मृण्मूर्त्तियों के आधार पर बनी हैं†। गुप्तकालीन मृण्मूर्त्तियों से भी ऐसा ही प्रमाणित होता है‡।

---

* ज० यू० पी० हि० सो०, जिल्द ३, १९३५, पृ० १२६।

† इं० हि० क्वा०, जिल्द ३, १९३५, पृ० १२६।

‡ इंडियन ऐंटिक्वेरी, अगस्त १९३९, पृ० १४३।

चि० सं० १

ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में भी कुम्हारों की अलग अलग मृण्मूर्त्तियों की दूकानें थीं। स्वयं कुछ कुम्हारों के बच्चे मिट्टी के खिलौने बनाया करते रहे होंगे। जैसा पहिले कहा जा चुका है, अनेक खिलौनों का निर्माण बच्चों के हाथों से हुआ है। प्राचीन यूनान में भी कई खिलौने बच्चों द्वारा बनाए जाते थे*।

फिर भी हमारे सम्मुख एक विडंबना उपस्थित होती है। यदि इन मृण्मूर्त्तियों में अधिकतर बच्चों के खिलौने थे, तो यह प्रश्न होता है कि कैसे बच्चे इन कुरूप खिलौनों को पसंद करते रहे होंगे। बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति सुंदर वस्तुओं की ओर लपकने की होती है। हमारा अनुमान है कि उस काल में मृच्छिल्प अपने शिशु काल में था और इसलिये भद्दे होने पर भी उस काल के बच्चे इन खिलौनों को अपना लेते थे।

मोहें जो दड़ो में एक पत्थर की मूर्ति प्राप्त हुई है जिसको श्री रामप्रसाद चंदा योगी की तथा मि० मैके पुजारी की मूर्ति बतलाते हैं†। इस मूर्ति में केवल धड़ ही बाकी रह गया है। यह पुरुष-आकृति दाढ़ी पहिने है, किंतु होंठ का ऊपरी भाग साफ है। दाएँ हाथ में अंतक या भुजबंध सदृश कोई आभूषण है, शरीर में एक त्रिपत्र ढंग का वस्त्र है (चि०सं० १)। प्राचीन बेबीलोन के पुरोहित ऐसे ही ढंग के वस्त्रों को पहिनते थे।

---

* मरे—ए हैंड बुक ऑव ग्रीक आर्क्योलॉजी, पृ० ३१७।

† आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ९१।

इस मूर्ति की आँखें अधखुली हैं। वे नासिका के अग्र-भाग में स्थित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नेत्रों में कोई खचित पदार्थ रखा था।

आदिपुराण में योगी की आँखों के लिये लिखा है*—

नात्युन्मिषन् न चात्यंतनिमिषन्

अर्थात् योगी की आँखें न तो पूरी बंद ही होनी चाहिए और न पूरी खुली। इस मूर्ति की आँखें अधखुली हैं और इसके आधार पर श्री० चंदा इसे योगी की मूर्ति बतलाते हैं†।

यहाँ पर इस मूर्ति के शरीर की त्रिपत्र भूषा के विषय में भी कुछ कहना उचित होगा। कतिपय विद्वानों ने कहा है कि यह त्रिपत्र शैली केवल वृत्तों के समन्वय से बनी है। यह धारणा ठीक ही है। यह शैली फारस, यूनान, मेसोपोटेमिया आदि देशों को भली भाँति ज्ञात थी। हड़प्पा की कई गुरियों पर इस शैली का चित्रण हुआ है‡। श्री वत्स को यह शैली कई अन्य आभूषणों पर भी दीख पड़ी थी। उन्होंने रजत का एक ऐसा आभूषण पाया था, जिसमें सोने की टोपी वाली खड़िया मिट्टी की गुरियों की जड़ाई द्वारा यह त्रिपत्र शैली बनाई गई थी§।

---

* आदि पुराण, ११, ६२।

† मॉडर्न रिव्यू, अगस्त १९३२, पृ० १५८।

‡ वत्स—य० ह०, पृ० ३६६।

§ आ० स० रि०, १६२८-२९, पृ० ७६।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्तियों पर सजावट के लिये रंग भी लगता था। इस योगी की मूर्ति के त्रिपत्र अलंकरण में भी लाल रंग लगाया गया था।

एक अलबास्टर की बनी दूसरी पत्थर की मूर्ति भी मोहें जो दड़ो में पाई गई है। इसमें आकृति घुटने ऊपर की ओर मोड़-कर बैठी है। हाथ घुटनों पर स्थित हैं और चेहरा बहुत लंबा है। नाक भी आवश्यकता से लंबी बना दी गई है। आकृति के चेहरे पर एक नुकीली दाढ़ी है। संभवतः इस आकृति की आँखों के गड्ढों पर खचित वस्तु रखी गई थी*। इसी के साथ एक दूसरे सिर का उदाहरण है। यह आकृति भी दाढ़ी पहिने है। इसमें केशों की सुंदर व्यवस्था की गई है। बाल शायद नारों द्वारा बाँधे गए थे। इस मूर्ति में नाक ऊँची तथा गाल उठे हुए से हैं†।

स्त्रियों के भी कुछ सुंदर सिर मोहें जो दड़ो में प्राप्त हुए हैं। एक लगभग साढ़े पाँच इंच ऊँचा सिर है। इसके बाल घुँघराले हैं। दाहिनी आँख में, जो कि विचित्र ढंग से बनाई गई है, श्वेत रंग दीखता है। पीले चूने के पत्थर का एक दूसरा सिर है। इसमें पीछे की ओर एक गाँठ है। मुँह छोटा है और होंठ अधिक मोटे हैं। इसका माथा भी

---

* आ० स० रि०, १६२५-२६, पृ० ८५।

† वही पृ० ८१-८२।

छोटा है। यह ज्ञात नहीं हो सका है कि यह मूर्ति स्त्री की है या पुरुष की। दाढ़ी के न होने से तो यही ज्ञात होता है कि यह मूर्ति किसी स्त्री की है। अंतिम युग में बनी एक दूसरी मूर्ति है। इसके वक्षःस्थल पर कोई मोटा रुईदार कपड़ा बँधा है। किंतु साथ ही एक शाल भी है जो कि बाँईं बाँह से होकर दाईं बाँह के नीचे पड़ा है। इस मूर्ति का गला बड़ा मजबूत है किंतु माथे और गाल की हड्डियाँ चिपटी हैं।

सबसे महत्वपूर्ण शिल्प की दो मूर्तियाँ हड़प्पा से प्राप्त हुई हैं। इनमें एक लाल तथा दूसरी नीले-काले पत्थर की बनी है। इनके अंग भंग हो गए हैं, किंतु धड़ अभी ठीक अवस्था में है। लाल पत्थर की मूर्ति में मांसपेशियाँ बड़े ही सुंदर ढंग से दिखलाई गई हैं (चि० सं० २३)। पेट, जैसा कि प्रायः बाद की भारतीय कला में भी दीख पड़ता है, कुछ उठा हुआ है। कुहनियों पर गोलाकार छिद्र बने हैं। ये छिद्र किसी गोल बर्मे से बनाए जाते रहे होंगे। संभवतः शरीर के भिन्न भिन्न अवयव अलग अलग बनाकर फिर सीमेंट से जोड़े जाते थे। नीले पत्थर में अंकित मूर्ति तो किसी नर्तक की जान पड़ती है। इस मूर्ति का गला बहुत भारी है। सर जॉन मार्शल कहते हैं कि इस मूर्ति के शायद तीन सिर थे, और यह प्रागैतिहासिक युग के शिव की मूर्ति रही होगी*।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ४६।

इन मूर्तियों से ज्ञात होता है कि उस काल के कलाकारों का छेनियों तथा अन्य हथियारों पर कितना अधिकार था। साथ ही हम कहेंगे कि उन्हें मनुष्य-शरीर के अंग-प्रत्यंगों का सुंदर ज्ञान था। सर जॉन मार्शल ठीक ही कहते हैं कि "ई० पू० चौथी शताब्दी का कोई भी यूनानी कलाकार इस मूर्ति को स्व-निर्मित कहने में गौरव समझता।" वास्तव में जहाँ तक शरीर-सौष्ठव तथा सुंदरता का प्रश्न है वहाँ तक तो यूनान की कला का कोई पार नहीं पा सकता। वहाँ की कला में कभी आध्यात्मिक भाव नहीं आए। यूनानी लोगों ने कलाओं के द्वारा भगवान् तक पहुँचने का कभी स्वप्न तक नहीं देखा। मनुष्य-सौंदर्य के ही चारों ओर उनकी कलात्मक प्रवृत्ति घूमी।

मोहें जो दड़ो में प्राप्त अन्य मूर्तियाँ शिल्प की दृष्टि से निम्न कोटि की हैं। उनके बीच में इन हड़प्पा की मूर्तियों का होना एक रहस्य सा मालूम होता है। यदि हम यह मानें कि ये मूर्तियाँ ऐतिहासिक युग की हैं, और अकस्मात ही इस तह में चली गई हैं तो हमें इसमें संदेह होता है। क्योंकि जिस तह में ये मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उस तह में ऐतिहासिक युग की कोई दूसरी वस्तु नहीं मिली है। दूसरे, जैसा कि सर जॉन मार्शल कहते हैं इस शैली की मूर्तियाँ कभी ऐतिहासिक युग में नहीं बनीं। अब तक मौर्य, शुंग, तथा गुप्त काल की सैकड़ों मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, किंतु किसी भी मूर्ति में शरीर के अंग अलग से बनाकर नहीं जोड़े गए हैं। इन युगों की पूर्ण

मूर्तियाँ समूचे पत्थरों की बनी हैं। हड़प्पा की मूर्तियों में तो हाथ और सिर संभवतः सीमेंट आदि पदार्थों से जोड़े जाते थे। फिर हड़प्पा की मूर्तियों में कुहनी पर हाथों के लिये जो छिद्र बने हैं वे गोल हैं और शायद बर्मे द्वारा बनाए गए हैं। छिद्र करने का यह ढंग भी सर्वथा नवीन है। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक युग में हड़प्पा की मूर्तियों के नमूने के पत्थरों की मूर्तियाँ कभी नहीं बनीं। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि हड़प्पा की मूर्तियाँ प्रागैतिहासिक युग की ही हैं*। संभवतः उस युग में हड़प्पा में भी उसी सूक्ष्म तथा ज्ञान के कलाकार थे, जैसे ई० पू० चौथी शताब्दी में यूनान में उत्पन्न हुए थे। केवल इन दो मूर्तियों और नर्तकियों की मूर्ति के अतिरिक्त मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में कोई अन्य मूर्ति नहीं कोरी गई है। अन्य मूर्तियाँ अति साधारण हैं। किंतु उस समय एक कला-शाखा ने कला में खूब उन्नति कर ली थी, दूसरी शाखा अपने शिशु काल में थी। कालांतर में यही परंपरा यक्ष-मूर्ति-समूह, भारुत, साँची, अमरावती तथा मथुरा की कला में अवतरित हुई।

प्राचीन सिंधु-प्रांत में मूर्तियों की आँखों तथा अन्य सजावटों के लिये खचित वस्तुओं का प्रयोग भी होता था। कुछ आँखों में तो पत्थर और कुछ में घोंघे के टुकड़े लगे थे। यह शैली मिस्र तथा सुमेर के लोगों को भी ज्ञात थी।

---

* वत्स—य० इ०, पृ० ५०८।

पीतल की नर्तकियों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। किंतु नृत्य का उस काल में क्या ध्येय था, यह ज्ञात नहीं है। पीतल की एक नर्तकी को तो देवदासी माना गया है। संभवतः उस काल के नृत्य अधिकतर धार्मिक ही होते थे। आजकल उदयशंकर, कथाकाली तथा शांतिनिकेतन और जयपुर के कला-संप्रदाय नृत्य का प्रचार केवल कला की दृष्टि से करते हैं।

बाजूबंद, कंठहार, बड़े हार, चूड़ियाँ, भुजबंध, अंतक, अँगूठियाँ इत्यादि वस्तुएँ बड़ी मनोहर हैं। इनकी निर्माण-शैली देखते ही बनती है। आभूषणों का व्यवहार प्रत्येक वर्ग के लोगों में था। श्री दीक्षित तथा साहनी महोदय को चाँदी की कल्सियों में जो आभूषण मिले थे उनकी वर्णछटा अति सुंदर है। बड़े हारों पर भिन्न भिन्न रंगों की सुंदर गुरियों तथा स्वर्ण की पट्टियों का प्रयोग हुआ है। आभूषणों में बहूमूल्य पत्थरों का कम प्रयोग हुआ है। गोमेदसन्निभ तथा लाल गोमेदा की गुरियाँ ही अधिकतर प्रयुक्त हुई हैं। संभवतः लाल गोमेदा की गुरियाँ चन्हू दड़ो में बनाई जाकर उर तथा सूसा को भी भेजी जाती थीं। मोहें जो दड़ो की आवश्यकताओं की पूर्ति भी शायद चन्हू दड़ो ही करता था*।

मोहें जो दड़ो में थोड़ी अलंकृत लाल गोमेदा की गुरियाँ भी प्राप्त हुई हैं। एक समय इस शैली की गुरियों का मेसोपोटेमिया,

---

* आ० स० रि०, १९३५-३६, पृ० ४२।

फारस तथा सूसा में बड़ा प्रचार था। इन गुरियों पर काले या सफेद रंग से कारीगरी की जाती थी। ऐसी गुरियाँ मोहें जो दड़ो में खड़िया पत्थर से भी बनी हैं। पहले खड़िया पत्थर पर पकाए गेरुए रंग से पालिश होती थी और इसके बाद फिर चित्रण होता था*। फारस में तो इस शैली की गुरियाँ आज तक भी बनती हैं। सिंधु-प्रांत के सेहवान नामक स्थान में मि० मैके ने एक व्यक्ति से इस शैली की गुरियों के संबंध में बातचीत की थी। उस व्यक्ति ने मि० मैके को बतलाया कि हैदराबाद (सिंध) में केवल एक ही मनुष्य इस कौशल को जानता था, किंतु उसकी अब मृत्यु हो गई है। समस्त सिंधु-प्रांत में अब उस व्यक्ति का पुत्र ही इस कौशल को जानता है†। सिंधु-प्रांत में लाल गोमेदा की अलंकृत गुरियाँ बाद में भी बनी थीं किंतु वे साधारण हैं और ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये गुरियाँ तब बनी थीं जब मोहें जो दड़ो की महत्ता फीकी पड़ चुकी थी।

कुछ गुरियों में खचित पदार्थ भी रखा जाता था। इनसे सचमुच इन गुरियों की सुंदरता बढ़ती रही होगी। कितनी ही गुरियों में त्रिपत्र शैली का चित्रण है और गुरियों में बर्मे की तरह किसी औजार से गहरान किया जाता था। बाद में गहरे स्थानों में रंग भरा जाता था‡।

---

* ऐंटिक्वेरीज जर्नल, जनवरी १६२६. जि० ६, पृ० ४६५।

† 'मैन', जिल्द ३३, सितम्बर १६३६, पृ० १४३-४४।

‡ वत्स—य० ह०, पृ० ५०८।

सिखारी में बनी बहुत सी गुरियाँ सिंधु-प्रांत तथा हड़प्पा में प्राप्त हुई हैं। इनमें कुछ तो वास्तविक पत्थरों की बनी हैं, पर कुछ अन्य पदार्थों की बनी हुई हैं। उनको गरम करने से उनका रंग श्वेत हो गया था। इनमें बहुत सी गुरियाँ विभिन्न रंगों से चित्रित थीं। यह बात विशेष महत्व की है कि सिखारी गुरियों के रंगने की प्रथा मेसोपोटेमिया, मिस्र तथा क्रीट के लोग नहीं जानते।

गुरियों को रँगने के लिये प्रधानतया नीला रंग ही उपयुक्त समझा जाता था। इनको चमकाने का प्रयत्न भी बाद में किया जाता था।

निर्धन समाज के लोग मिट्टी की बनी गुरियों को ही प्रयुक्त करते थे। ये अति साधारण हैं। इनमें किसी भी प्रकार की कारीगरी नहीं है। हाँ, कभी कभी इनपर कुछ रंगों से पालिश अवश्य कर दी जाती थी।

सोने की कम गुरियाँ प्राप्त हुई हैं। ये प्रायः आभूषणों के समूहों के साथ थीं। संभवतः मूल्यवान होने के कारण ये कम बनाई जाती थीं। चाँदी तो सिंधु-प्रांत निवासियों को उपलब्ध थी, किंतु फिर भी चाँदी की थोड़ी ही गुरियाँ बनी थीं। शायद उस काल के लोग रंग-बिरंगी गुरियों को ही अधिक पसंद करते थे। ताम्र तथा पीतल की गुरियों का अच्छा प्रचार था। इन धातुओं से मालाओं के बीच के लिये अंतक आदि बना करते थे।

अनेक गुरियाँ भिन्न भिन्न प्रकार के पत्थरों को जोड़कर बनाई जाती थीं। यह शैली संसार के किसी अन्य देश को ज्ञात नहीं थी।

कुछ गुरियों पर सोने की टोपियाँ भी पहनाई जाती थीं। संसार के और देशों में तो इस प्रकार की स्वर्ण टोपी सहित गुरियों का बड़ा प्रचार था। मेसोपोटमिया तथा मिस्र देश में टोपियों सहित गुरियों की शैली बहुत प्रचलित थी।

गुरियाँ कई आकारों की होती थीं। बड़े से बड़े और छोटे से छोटे आकारों में भी वे सिंधु-प्रांत में प्राप्त हुई हैं। इनके लिये पत्थर भारत के भिन्न भिन्न भागों तथा भारत से बाहर के देशों से भी आते रहे होंगे। सिखारी पत्थर भारत के कई स्थानों में पाया जाता है। सिंधु-प्रांत में संभवतः यह राजपूताना, मैसूर, मद्रास, जबलपुर तथा बिहार-उड़ीसा से प्राप्त किया जाता था। वैदूर्य तो निस्संदेह अफगानिस्तान के बदख्शां प्रांत से आता था। सुंदर हरा अमेजन पत्थर नीलगिरि की पहाड़ियों के निकट दादाबेटा या काश्मीर से प्राप्त किया जाता रहा होगा। लाल गोमेदा काश्मीर के रुदक प्रदेश, काठियावाड़ तथा राजपीपला रियासत से प्राप्त किया जाता था। लाल गोमेदा की गुरियों का प्रचार अधिक था। संभवतः सिंधु-प्रांत में बहुत सी गुरियाँ फारस से भी आती थीं*।

---

* ऐंटिक्विट, दिसंबर १९३१, पृ० ४६१।

घोंघे की भी कुछ गुरियाँ बनी थीं। लाल अपारदर्शक गोमेद की भी गुरियाँ थीं। यह पत्थर मारवाड़ तथा बिजावर के कुछ स्थानों में पाया जाता है। मोहें जो दड़ो में यह पत्थर राजपूताना से ही आया रहा होगा।

नील लोहित स्फटिक, दक्षिण पठार तथा बिहार-उड़ीसा से प्राप्त किया जाता था। इसकी भी सुंदर गुरियाँ बनी थीं। लाजवर्द की बहुत कम गुरियाँ बनी थीं। जामुनी स्फटिक बिहार-उड़ीसा तथा दक्षिणी पठार के कुछ भागों में पाया जाता है। सिंधु-प्रांत में संभवतः दक्षिणी पठार ही से यह पत्थर आता था। गोमेदसन्निभ, पलनाद के निकट गोदावरी के पुलिन से प्राप्त किया जाता रहा होगा।

स्वर्ण तथा रजत की भी अनेक वस्तुएँ मोहें जो दड़ो और हड़प्पा में प्राप्त हुई हैं। स्वर्ण तो भारत ही के किसी भाग से प्राप्त किया जाता रहा होगा। दक्षिण भारत (मैसूर) में स्वर्ण की अनेक खानें हैं। कोलर के स्वर्ण में कुछ रजत-तत्व भी होता है। ऐसा ही मिश्रित स्वर्ण मोहें जो दड़ो का भी है। अनंतपुर से भी स्वर्ण मँगाया जाता रहा होगा। रजत का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। स्वर्ण की अपेक्षा अधिकतर बड़ी वस्तुएँ रजत की ही बनती थीं। रजत भागलपुर, मानभूम, मुंगेर तथा बिहार-उड़ीसा के सिंहभूम प्रदेशों से प्राप्त किया जाता था। कुछ रजत के आभूषणों में सीसा भी मिला हुआ है। मैसूर तथा मद्रास में भी रजत की खानें थीं, किंतु यहाँ का रजत स्वर्ण-

मिश्रित है। यदि मोहें जो दड़ो निवासी धातुओं को अलग अलग करने की विधि जानते थे तो निश्चित है कि सिंधु-प्रांत में रजत और स्वर्ण दक्षिण से ही यहाँ आता था*।

ताम्र बलूचिस्तान के पश्चिमी भाग, अरब और अफगानिस्तान के दक्षिण में पाया जाता है। भारत में ताम्र की खानें अजमेर, सिरोही, खेतड़ी तथा मेवाड़ में हैं। इन्हीं स्थानों से मोहें जो दड़ो में रजत आता रहा होगा।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में पीतल की भी कई वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। पीतल की कुछ वस्तुएँ साँचों पर ढाली जाती थीं, कुछ पिटी चद्दरों से बनती थीं और कुछ समूचे टुकड़ों से बनाई जाती थीं। सिंधु-प्रांत में ताँबा और पीतल साथ साथ चलते थे, इसी कारण इस सभ्यता को भी नवीन प्रस्तर-युग की सभ्यता कहते हैं। मार्शल साहब की धारणा ठीक ही है कि सिंधु-प्रांत निवासियों को पीतल कम मात्रा में प्राप्त था।

सन् १९०५ ई० में मि० वी० ए० स्मिथ ने एक लेख में यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि भारतीय सभ्यता में कभी पीतल का युग नहीं आया। उस समय केवल थोड़ी सी वस्तुएँ दक्षिण भारत के शवस्थानों में मिली थीं। इनको भी स्मिथ साहब ने बाद के युग का बतलाया। उन्होंने यह भी कहा था कि भारत में पीतल की जो वस्तुएँ हैं वे या तो बाहर

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ६:५।

से आई हैं, या अकस्मात ही भारत में बन गई हैं*। किंतु आज मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की खुदाइयों ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि ५००० वर्ष पूर्व भी भारतवासी पीतल से अभिज्ञ थे और अन्य संसार की सभ्यताओं की तरह उनकी सभ्यता भी पीतल के युग के अंतर्गत आई थी।

सीसे का सिंधु-प्रांत में कम प्रयोग हुआ है। यह शायद अजमेर की खानों, बिहार-उड़ीसा तथा मद्रास से यहाँ आता रहा होगा। पश्चिम में अफगानिस्तान की घोखंद घाटी में स्थित फारंजल नामक स्थान में भी सीसे की खानें थीं। किंतु मार्शल साहब के अनुसार मोहें जो दड़ो में सीसा अजमेर से आया रहा होगा।

टीन सिंधु-प्रांत में पृथक् धातु के रूप में प्राप्त नहीं हुआ है। यह प्राय: तीक्ष्ण धारवाले औजारों या हथियारों के लिये उपयुक्त समझा जाता था। टीन हजारीबाग प्रदेश या फारस के उत्तर-पश्चिम में कारादाग प्रदेश से प्राप्त किया जाता रहा होगा।

हाथीदाँत की वस्तुएँ कम प्राप्त हुई हैं। समस्त खुदाइयों में अभी तक हाथीदाँत के दो दाँत प्राप्त हुए हैं। हाथी की हड्डियों से जुड़ाई या खचित टुकड़े भी बनाए जाते थे। एक विचित्र हाथीदाँत का टुकड़ा है जो कि किसी बर्तन के ढकने पर रखा रहा होगा। इस टुकड़े के ऊपर एक दूसरे

* इंडियन एँटिक्वेरी १९०५, पृ० २२९।

को काटते हुए वृत्त बने हैं। कभी कभी हाथीदाँत की बड़े आकारों की वस्तुएँ भी बनती थीं*। दुबके हुए भेड़ों और कुत्तों के जो खिलौने प्राप्त हुए हैं उनके शरीरों के मध्य में छिद्र हैं। इनको शायद माला के रूप में पिरोया जाता था। ये खिलौने क्रीड़ाशील कल्पना के सुंदर उदाहरण हैं।

सिंधु-प्रांत-निवासियों की वेश-भूषा का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। आभूषण बनाने में इस प्रांत के निवासियों ने विशेष कुशलता प्राप्त की थी। उनके भिन्न भिन्न रूपों में बनाने की शैली तथा रंगों का चुनाव उच्च कोटि के कलाकारों का ही कार्य हो सकता है। इन सब बातों को देखकर हमें यह कहने में संकोच नहीं होता कि सिंधु-प्रांत-निवासियों का जीवन कलामय था।

सिंधु-प्रांत की मुद्राओं तथा पट्टियों पर अंकित आकृतियाँ सिंधु-कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। ये मुद्राएँ या तो वर्गाकार हैं या समचतुरस्र। अधिकतर मुद्राएँ सिखारी की बनी हैं। पहले ये आरी से काटी जाती थीं और फिर चाकू से कोने आदि ठीक किए जाते थे। बाद को चमकाने के लिये इन्हें किसी पदार्थ से माँजा जाता था। अंत में इनके ऊपर पालिश की जाती थी। इनपर कई पशुओं का चित्रण है। किंतु कला के सर्वोत्तम उदाहरण कूबड़दार बैल, भैंस तथा नीलगाय के चित्रण

* मैके—इं० सि०, पृ० १७१-७२।

में दीख पड़ते हैं। इनका यथार्थ रूप में चित्रण हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार ने पहले पशुओं के प्रत्येक अंग का अध्ययन कर लिया था और इसके बाद ही उसने अपनी छेनी उठाई थी। इन उदाहरणों से कलाकारों की सत्यनिष्ठा तथा पर्यवेक्षण-शक्ति स्पष्ट रूप में दीख पड़ती है। ये कलाकार यह भी भली भाँति जानते थे कि कला का सौंदर्य से क्या संबंध है और किस प्रकार सौंदर्य की अभिव्यक्ति कला में होनी चाहिए। पशुओं का ऐसा सजीव, स्वाभाविक तथा गौरव-पूर्ण चित्रण बाद की अशोककालीन कला में भी हुआ है।

वास्तव में पशुओं की इतनी सुदृढ़ मांस-पेशियाँ यूनान की ही कला में सर्व प्रथम दीख पड़ती हैं। यह कहना ठीक ही है कि मोहें जो दड़ो की यह कला हमारे सम्मुख परिपक्व रूप में आती है। इसका जन्म तो उसके सैकड़ों वर्ष पूर्व हो गया रहा होगा।

मृण्मूर्तियाँ भी पत्थर की मूर्तियों की शैली पर ही बनाई जाती थीं। बैल का एक सुंदर सिर प्राप्त हुआ है। इसमें आँख, कान तथा सींगों के लिये छिद्र बने हैं। आँख, कान तथा सींग अलग अलग बनाकर जोड़े जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिर भी किसी चिपटी वस्तु के साथ सीमेंट द्वारा जोड़ा गया था। बैल के बाल कुशलता-पूर्वक दिखलाए गए हैं।

पशु, पक्षियों तथा मूर्तियों की सुंदरता को बढ़ाने के लिये खचित वस्तुओं का प्रयोग होता था। ये खचित वस्तुएँ कीमती पत्थर, हाथीदाँत तथा घोंघे की बनती थीं। प्रायः

जैसलमेर के लाल और पीले पत्थर और अलबास्टर से ही खचित टुकड़े निकाले जाते थे। ये टुकड़े भिन्न भिन्न रूपों में काटे जाते थे। छोटी छोटी गुरियों तक में ये खचित टुकड़े रखे गए थे। एक दो गुरियों में तो सुंदर पँखड़ियों के खचित टुकड़े जुड़े थे।

पशु-आकृतियों के लिये ताम्र तथा पीतल का प्रयोग भी होता था। पीतल तो शायद उसी ढंग से तैयार किया जाता था जैसा बाद में नालंदा विहार के कारीगर तैयार करते थे*। किंतु यह निर्विवाद है कि प्राचीन सिंधु-प्रांत में एक वर्ग के लोगों ने धातु-विज्ञान में अवश्य कुशलता प्राप्त कर ली थी।

हड़प्पा में चौदह भाड़ भी खुदाई में निकले हैं। ये भिन्न भिन्न ढंगों से बनाए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन भाड़ों में भिन्न भिन्न मात्रा की गर्मी पदार्थों में पहुँचाई जाती थी। इनमें मिट्टी के बर्तन नहीं पकाए जाते थे। संभवतः इनमें धातु के बर्तन, फियांस की मुद्राएँ और पट्टियाँ, कार्नेलियन गुरियाँ तथा ऐसी ही अन्य वस्तुएँ डाली जाती थीं।

मोहें जो दड़ो, हड़प्पा और सिंधु-प्रांत के अनेक स्थानों से मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं। ये बर्तन प्रायः कुंभ पर बनाए जाते थे। खेद है कि अभी तक कुंभकार के कोई चाक सिंधु-प्रांत की खुदाइयों में नहीं मिले हैं। ६७ फीट वाले कई भट्टियों के घेरे इधर उधर दीखते हैं। मिट्टी निकट के ही स्थानों से ली

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ५४।

जाती थी। इस मिट्टी में कभी बालू, कभी चूना और कभी दोनों पदार्थ मिले रहते थे। सिंधु प्रांत के मिट्टी के बर्तन दो प्रकार के थे। एक वर्ग के बर्तनों पर पतले, हल्के लाल या पीले रंग की पालिश होती थी। इनपर रेखागणित के वृत्तों या कोणों की कारीगरी की गई है। सिंधु प्रांत में सर्वप्रथम ऐसे बर्तन आम्री में, जो मोहें जो दड़ो से ८० मील दक्षिण है, प्राप्त हुए थे। इन बर्तनों पर काले या चाकलेट रंग से बेल-बूटे बनाए जाते थे। ऐसे बर्तनों पर गले नहीं बनाए गए थे।

दूसरे वर्ग के बर्तन अच्छी तरह पकाई चमकीली मिट्टी के बने हैं। इन बर्तनों पर लाल रंग की पालिश थी और इनके ऊपर काले रंग से बेल-बूटे, किए गए थे। बर्तनों की पालिश कभी कभी गेरुए रंग की होती थी। गेरू गच मध्यप्रदेश में पाया जाता है, किंतु मि० मैके कहते हैं कि सिंधु-प्रांत में गेरू हर-मुज (फारस की खाड़ी) से आता था। इस वर्ग के बर्तनों पर रेखागणित के चित्र नहीं हैं। कितने ही ऐसे बर्तन हैं जिनके ऊपर दूसरा रंग नहीं चढ़ाया गया था। इस ढंग के अधिकतर बर्तन मोहें जो दड़ो में ही मिले हैं। सिंधु-प्रांत के अन्य स्थानों, जैसे चन्हू दड़ो, गाजीशाह जो कोटिड़ा आदि के निम्न स्तर में भी ऐसे बर्तन पाए गए हैं। अन्य स्थानों के बर्तनों पर न तो रंग की पालिश है और न कोई कारीगरी ही।

बर्तनों को पकाने से पहले कूँचियों द्वारा बूटे बना दिए जाते थे। ये बेल-बूटे बड़े रमणीय तथा हृदयग्राही हैं। हड़प्पा के

शवस्थानों में प्राप्त बर्तनों की चित्रकारी तो बड़ी ही सुंदर है। इन बर्तनों पर ताड़ तथा शिरीष के पत्तों का चित्रण है। अनेक बर्तनों पर पीपल की पत्तियों का चित्रण भी दीख पड़ता है। चन्हू दड़ो से प्राप्त बर्तनों पर पीपल की पत्तियों का चित्रण दर्शनीय है*। मछली तथा फेफड़ों की आकृति के कुछ चित्र इन बर्तनों पर बनाए गए थे। यह चित्रण कभी कभी तो सारे बर्तन के ऊपर होता था किंतु कुछ उदाहरणों में यह बर्तनों के गलों तक ही सीमित है। हड़प्पा से प्राप्त एक बर्तन के गले पर उड़ते हुए मोर दिखलाए गए हैं। इनके बीच बीच में तारे बने हैं। इन मोरों की पीठ पर अर्द्ध मनुष्य तथा अर्द्ध पशु-आकृतियाँ हैं। संभवतः ये मनुष्य के 'सूक्ष्म शरीर' को स्वर्ग ले जाते हुए चित्रित किए गए हैं। प्रायः मोरों के सिर पर सींग दिखलाए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु-प्रांत में मोर का मृतक-संस्कारों में अवश्य कुछ स्थान था†। चन्हू दड़ो से प्राप्त दो बर्तनों के टुकड़ों पर मोर सर्पों पर झपटते दिखलाए गए हैं।

हड़प्पा के एक दूसरे उदाहरण में विचित्र दृश्य है। इसमें रेखाओं द्वारा बर्तन का गला दो भागों में विभाजित किया गया है। नीचे के भाग में तो पत्तियां और सितारों का चित्रण है और ऊपर के भाग में एक महत्वपूर्ण दृश्य है। इस दृश्य के भी दो

* आ० स० मे० नं० ४८, पृ० ३३।

† वत्स—य० ह०, पृ० २०७।

भाग हैं। एक भाग में एक चंचुधारी मनुष्य के दोनों ओर दो विचित्र पशु, संभवतः बैल हैं। इन पशुओं के सींग मुड़वा तथा लंबे हैं। चंचुधारी आकृति इन पशुओं को रस्सी से बाँधे और हाथों और पैरों से पकड़े हुए है। इसके बाएँ हाथ में धनुष और बाण है। दाईं ओर के चित्रण में इसी पशु पर एक कुत्ता धावा कर रहा है। कुत्ते ने मुँह में पशु की पूँछ पकड़ ली है। पशु के पीछे दो उड़ते मोर भी दिखलाई देते हैं। इन दोनों भागों के दृश्यों के मध्य में एक बड़े आकार का बकरा है। इस पशु के बड़े बड़े सींगों पर आठ त्रिशूल जुड़े हैं। ये शिवजी के त्रिशूल रहे होंगे*।

बर्तन के गले के दूसरे भाग के दृश्य में त्रिशूल पशु के सींगों के बीच में आ गए हैं। बाईं ओर के पशु की पूँछ भी शायद नोच ली गई थी। दाईं ओर बकरे की आकृति के मोर चित्रित किए गए हैं।

श्री वत्स कहते हैं कि इन दृश्यों में चित्रित पशु देवी-देवताओं को बलि दिए गए थे। इसलिये वे मृतक व्यक्तियों की आत्मा को स्वर्ग तक ले जा सकते थे। इसमें चित्रित कुत्ते संभवतः यमराज के कुत्ते हैं। वैदिक युग के लोगों का विश्वास था कि यम की सीमा में स्थित नदी को पार करने के लिये मृतक को उत्क्रांति या वैतरणी गाय की सहायता की आवश्यकता

* वत्स—य० ह०. पृ० २०७।

होती है। उक्त दृश्य में मृतक को बैल की सहायता से नदियाँ पार करवाने का दृश्य अंकित है*।

इस विशद चित्रण से ज्ञात होता है कि हड़प्पा निवासियों ने मृतक-शरीर संबंधी अनेक काल्पनिक धारणाएँ बना ली थीं। साथ ही वे इन धारणाओं को लाक्षणिक रूप में भी रख सकते थे, यह उनकी विशेषता थी। सितारों के चित्रण का ध्येय संभवतः आकाश को दिखलाना था।

हड़प्पा में प्राप्त केवल एक बर्तन के टुकड़े पर ही मनुष्य-आकृति का चित्रण हुआ है†। मोहें जो दड़ो में किसी भी बर्तन पर मनुष्य या उसके शरीर के किसी भाग का चित्रण नहीं पाया गया है। कदाचित् किसी धार्मिक संकोच के कारण मोहें जो दड़ो में मनुष्य का चित्रण नहीं किया गया। दूसरी ओर मिस्र के प्राग्डाईनैस्टिक युग तथा सूसा और सुमेर के बर्तनों पर मनुष्य-आकृति का विशद चित्रण हुआ है।

कुछ बर्तनों पर आल्प्स पर्वत के जंगली बकरे का भी चित्रण है। यह बकरा सिंधु प्रांत में नहीं पाया जाता, किंतु यह स्पष्ट है कि यह पशु यहाँ के निवासियों को अच्छी तरह ज्ञात था। हड़प्पा से प्राप्त एक बर्तन पर बारहसिंगे का भी चित्रण है‡।

* वत्स— य० ह०, पृ० २०७-०८।

† आ० स० रि०, १६२७-२८, चित्र ३५ (बी)।

‡ वही, १६२७-२८, पृ० ७६।

साँप, मोर, बतख और तोते की आकृतियों से भी सिंधु-प्रांत में मिट्टी के बर्तन सजाए जाते थे। मछलियाँ तो सिंधु-प्रांत-निवासियों को अच्छी तरह ज्ञात थीं, किंतु इनका चित्रण केवल एक ही बर्तन पर पाया गया है। मछली के चित्रित न होने में अवश्य कुछ रहस्य मालूम होता है, क्योंकि मोहें जो दड़ो की अन्य समकालीन सभ्यताओं के स्थानों, जैसे नाल और सुमेर के बर्तनों में मछलियाँ प्रायः चित्रित की जाती थीं*। हरिण का चित्रण भी कुछ बर्तनों पर हुआ है। जंगली मुर्गे भी संभवतः कुछ बर्तनों पर चित्रित किए गए थे।

हड़प्पा में एक दूसरा कौतूहलजनक दृश्य चित्रित बर्तन प्राप्त हुआ है। इसमें एक मछुआ एक डंडे पर अपने जाल को लटकाए हुए है। इस मछुए के आगे भी कोई आदमी था, जिसका एक हाथ दिखाई दे रहा है। नीचे की मुड़ती रेखाएँ संभवतः नदी की धाराओं को सूचित करती हैं। बीच के रिक्त स्थानों में कई पशु तथा चिह्न अंकित किए गए हैं†।

चित्रण के लिये कूँचियाँ किस वस्तु की बनती थीं, यह भी ज्ञात नहीं है। आजकल के सिंधी कुंभकार तो गधे के बालों से कूँची बनाते हैं। उस समय भी या तो ताड़ के बारीक पत्रों या गधे के बालों से ही कूँचियाँ बनाई जाती रही होंगी।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २१६।

† वत्स – ह० इ०, पृ० २८९।

जिन बर्तनों में पानी या कोई आलात द्रव्य रखा जाता था उनके अंदर बिटूमन का पलस्तर लगाया जाता था। ऐसे बर्तनों के तलों से ज्ञात हो जाता है कि कुंभकार ने इन्हें घूमते हुए चाक पर से रस्सी द्वारा काटा था। घड़ों पर कभी कभी तो बहुत पतला और कभी खूब मोटा रंग चढ़ाया जाता था। मोटा रंग लगाने का एक लाभ यह भी था कि बर्तनों के छोटे छोटे छिद्र बंद हो जाया करते थे। भिन्न भिन्न रंगों की कारीगरी वाले बर्तन मोहें जो दड़ो में कम थे। ऐसे रंगों का एक सुंदर फूलदान या कुछ ऐसे ही अन्य प्रयोग का पात्र मोहें जो दड़ो में मिला था। ऐसे बर्तनों की चित्रकारी के लिये लाल, काला, हरा और पीला रंग प्रयुक्त होता था। प्रायः श्वेत रंग के ऊपर भी चित्रकारी की जाती थी। जहाँ श्वेत रंग के चित्रण की आवश्यकता होती थी वहाँ बर्तन के स्वाभाविक रंग के ही ऊपर चित्रण कर दिया जाता था*। मोहें जो दड़ो में इस रंग की कारीगरी से युक्त कम बर्तन प्राप्त हुए हैं। लाल रंग के अतिरिक्त अन्य रंग बर्तनों के पकाने के बाद ही लगाए जाते थे। सिंधु-प्रांत के बहुत से बर्तनों पर दो ही रंग प्रयुक्त होते थे। इनमें एक रंग तो बर्तन की पालिश का ही हो जाता था और दूसरे रंग से बर्तनों के ऊपर चित्रकारी की जाती थी। भिन्न भिन्न रंगों की कारीगरी से युक्त बर्तन उस समय बनने लगे थे जब कि

---

* मैके—इं० सि०, पृ० १४७।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की सभ्यता अवनति की ओर ढल रही थी।

इसी शैली के कुछ बर्तन आम्री में भी मिले थे। किंतु अलग अलग प्रभावों के कारण मोहें जो दड़ो तथा आम्री के बर्तनों में असमानताएँ आ गई हैं। सर औरियल स्टाईन को बलूचिस्तान के कुल्ली, मेही आदि स्थानों में भी इस शैली के बर्तन प्राप्त हुए थे*। नाल में भी मि० हारग्रीव्ज ने इस शैली के अनेक बर्तन प्राप्त किए थे†। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे बर्तन किन्हीं विशेष क्षेत्रों में फैले थे।

चमकाए हुए बर्तनों के टुकड़े भी खुदाई में प्राप्त हुए थे। इस प्रकार के बर्तन बनाने के लिये विशेष कौशल की आवश्यकता होती है। सभ्यता के इस युग में न तो इलम और न सुमेर के ही निवासियों को बर्तनों पर चमक लाने का ऐसा ढंग ज्ञात था। ऐसे बर्तनों के बनाने में सर्वत्र काले तथा नीले रंग की मिश्रित मिट्टी प्रयोग में लाई गई है।

मोहें जो दड़ो में बिना किसी चित्रकारी के थोड़े से ही बर्तन प्राप्त हुए हैं। ऐसे बर्तन प्रायः निम्न स्तर में पाए जाते हैं। कभी कभी इन बर्तनों पर केवल कुछ पीलापन लिए हुए तथा गहरे लाल रंग की पालिश की जाती थी। नक्काशी-युक्त बर्तन भी कम पाए गए हैं। अनेक बर्तनों के अंदर ही नक्काशी की गई

* आ० स० मे०, नं० ४३।

† वही, नं० ३५।

है। कुछ आहुति रखने की तश्तरियों पर भी नक्काशी है। यह बतलाना कठिन है कि बर्तनों के अंदर क्यों नक्काशी की जाती थी।

एक प्रकार की छोटी हंडियों पर उठे हुए दानों की कारीगरी है। संभवतः ऐसे बर्तन किसी मंदिर की निजी संपत्ति में से थे। कुछ बहुत छोटे आकारों के बर्तन भी प्राप्त हुए हैं। इनपर शायद इत्र या कोई सौंदर्य-वर्द्धक पदार्थ रखा जाता था। ६ इंच ऊँचे एक प्रकार के खंडित बर्तन मोहें जो दड़ो में बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। ये जल पीने के पात्र थे। जल पीने के बाद ये बर्तन संभवतः तोड़ दिए जाते थे। भारत में अभी तक जिस मिट्टी के बर्तन से एक बार पानी पी लिया जाता है उसे जूठा समझा जाता है। आहुति-आधारों का मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में बड़ा प्रचार था। इनपर भी लाल पालिश के ऊपर काले रंग से चित्रकारी की जाती थी। सुमेर तथा इलम में भी ऐसे सैकड़ों आहुति-आधार थे।

हड़प्पा में कुछ ऐसे बर्तन भी प्राप्त हुए हैं जिनमें खुदाई करके कुछ चिह्न बनाए हुए हैं। ये चिह्न संभवतः बर्तनों के निर्माण-कर्त्ताओं के नाम सूचित करते हैं। यह भी संभव है कि इन बर्तनों पर उनके अधिकारियों के नाम खुदे हों*।

---

* वत्स—य० ह० पृ० २८६। पटने की खुदाइयों में मौर्य-कालीन तहों पर कुछ ऐसे मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए थे जिन पर 'पर्वत

मोहें जो दड़ो में ऐसे चिह्नों का कोई बर्तन प्राप्त नहीं हुआ है। इनके अतिरिक्त सैकड़ों प्रकार के बर्तन सिंधु प्रांत में प्राप्त हुए हैं। यह निर्विवाद है कि प्राचीन काल में सिंधु प्रांत में कुंभकार-कला खूब फूली फली। इसका प्रभाव इतना दृढ़ था कि आज दिन भी उसी परंपरा के कारण सिंधु प्रांत के मिट्टी के बर्तन बड़े प्रसिद्ध हैं। मि० मैके ने सिंधु प्रांत के वलेरेजी नामक गाँव (जो मोहें जो दड़ो से २ मील की दूरी पर है) में कुंभ-कला का अध्ययन किया है। इस गाँव के तीन कुटुंब अभी तक अपने अतिरिक्त निकटवर्ती और गाँवों के लिये भी बर्तन बनाते हैं। ये छः प्रकार के चाक तथा दो प्रकार की कूँचियों का प्रयोग करते हैं। एक प्रकार की कूँचियाँ तो वे ताड़ की पत्ती के मध्यभाग को पैना करके बनाते हैं और दूसरे प्रकार की कूँचियाँ गर्दभ की गरदन पर के बालों से बनती हैं। कुंभकार-कला सिंधु प्रांत में स्वतंत्र रूप से उत्पन्न हुई थी। इसमें वैदेशिक तत्त्व तथा प्रभाव आए होंगे, किंतु उन्हें मोहें जो दड़ो की कला ने बड़ी खूबी के साथ पचाया है। यह अवश्य है कि आजकल की सिंधु प्रांत की कला उतनी उच्च नहीं है जितनी ५००० वर्ष पूर्व

के ऊपर चंद्रमा' का प्रतीक अंकित था। मुद्राशास्त्र-वेत्ताओं का कथन है कि यह मौर्य सम्राटों का राज-प्रतीक था। इन बर्तनों को राज्य की सम्पत्ति माना गया है।

थी। किंतु यह किसी दशा में नहीं माना जा सकता कि यह कला यूनान या अरब से यहाँ आई*।

आधुनिक काल में सिंधु प्रांत में हला नामक स्थान कुंभकला का केंद्र माना जाता है। सन् १८७१ ई० की एक अंताराष्ट्रीय प्रदर्शनी तक में सिंधु प्रांत के बर्तनों की बड़ी प्रशंसा हुई थी।

एक समय सिंधु प्रांत के बर्तनों पर रंगीन पालिश होती थी। किंतु समय की प्रगति के साथ रंगों का प्रयोग कम होता गया। इस बीच कई प्रकार के रंगों के प्रयोग होते रहे। किंतु सबसे अधिक समय तक लाल पालिश के ऊपर काले रंग का चित्रण चलता रहा। मोहें जो दड़ो के लोग उपयोगिता की ओर अधिक ध्यान देते थे। उन्होंने अच्छी पकाई मिट्टी के बर्तनों को ही सर्वश्रेष्ठ समझा। कारीगरी वाले बर्तन आम्री में मिले थे। आम्री का काल मोहें जो दड़ो से पहले का है, इसी लिये मोहें जो दड़ो और आम्री के बर्तनों में इतनी भिन्नता दीख पड़ती है। मोहें जो दड़ो निवासियों के लिये उस युग में अलंकरण का कम महत्व रह गया था†। इन मिट्टी के बर्तनों से सिंधु-सभ्यता के अभ्युदय तथा अवनति का अच्छा अध्ययन हो सकता है। सिंधु-सभ्यता की अवनति के चिह्न झूकर और लोहूम जो दड़ो की ऊपरी सतह में प्राप्त तथा झानगर के बर्तनों

---

* ज० रॉ० ए० इं०, जिल्द ६०, १६३०, पृ० ११४।

† आ० स० मे०, ० ४८, पृ० १५०।

पर मिलते हैं। इन स्थानों के बर्तन बड़ी असावधानी से बनाए गए हैं। झूकर और लोहूम जो दड़ो में लाल के ऊपर काले रंग से अलंकरण होता था। किंतु शैली में कुछ भिन्नता आ गई थी। झानगर में काली मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं और मोहें जो दड़ो की ऊपरी दो सतहों पर भी इसी शैली के बर्तन पाए गए हैं। अब लाल रंग के ऊपर काले रंग की चित्रकारी के बर्तन नहीं बनते थे। इन काली मिट्टी के बर्तनों पर कुछ कुछ नक्काशी भी की हुई है। इससे ज्ञात होता है कि कुंभकारों को उचित आर्थिक सहायता नहीं मिलती थी। लोग कुंभकला को कला भी नहीं मानते थे। यदि उन्होंने बर्तन बनाए तो केवल काम चलाने के लिये।

पशुओं की शक्ल के भी कुछ मिट्टी के बर्तन सिंधु प्रांत में बने थे। एक पशु घड़े के रूप में बना मिला है। इसकी पीठ में छिद्र भी है।

असंख्य मिट्टी के बर्तनों के प्राप्त होने से ज्ञात होता है कि इस नगर में कुंभकारों का भी एक मुहल्ला तथा वर्ग था। विद्वानों ने मोहें जो दड़ो के एक खुदे भाग को कुंभकारों का मुहल्ला बतलाया है। यह संभव है, किंतु यह मुहल्ला तब वर्तमान रहा होगा जब सिंधु-सभ्यता अवनति की ओर चल चुकी थी। अन्यथा एक सुंदर संस्कृति के नगर में कुंभकारों को स्थान नहीं मिल सकता था, क्योंकि उनके भट्ठों के धुएँ से नगर के स्वास्थ्य को अवश्य कुछ हानि पहुँचती।

सिंधु प्रांत के कलाकार सचमुच इस कला में पटु थे (चि० सं० ११)। जब हम देखते हैं कि आधे इंच तक ऊँचे बर्तनों के बनाने में यहाँ के निवासी असाधारण कौशल दिखला सकते थे, तो हम उस युग के कलाकारों के हाथों की बारीकी की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते।

अपने यश के दिनों में सिंधु प्रांत में कई कलाएँ अभ्युदय की पराकाष्ठा को पहुँची थीं। कितनी ही दिशाओं में इन्होंने अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को स्थापित किया था। सिंधु प्रांत की लाल पालिश के ऊपर काले रंग का जो चित्रण हुआ है, ऐसी शैली संसार के अन्य किसी प्राचीन देश को ज्ञात नहीं थी। यह सिंधु प्रांत की स्थायी शैली थी*। यह अवश्य था कि भास्कर शिल्प की कतिपय बातों की ओर कभी उनका ध्यान नहीं गया। भारत में मूर्तिकला का शिलारोपण करने का सर्वप्रथम श्रेय भी उन्हीं को दिया जायगा। श्री दीक्षित के मतानुसार योगी की मूर्ति भारतीय मूर्तिकला का सर्वप्रथम उदाहरण है। कई देशों की कला की तरह यहाँ की कला भी अपनी परवर्ती कला पर प्रकाश डालती है। लंबे नेत्र तथा नेत्रों का नासिका के अग्र भाग में स्थिर होना बाद की भारतीय कला में भी पाया जाता है†। वास्तव में जैन तथा बौद्ध धर्म की अनेक मूर्तियाँ योग

*एशंट ईजिप्ट ऐंड दि ईस्ट, मार्च-जून, १९३३, पृ० १।

† क्रामरिश—इंडियन स्कल्पचर, पृ० ४।
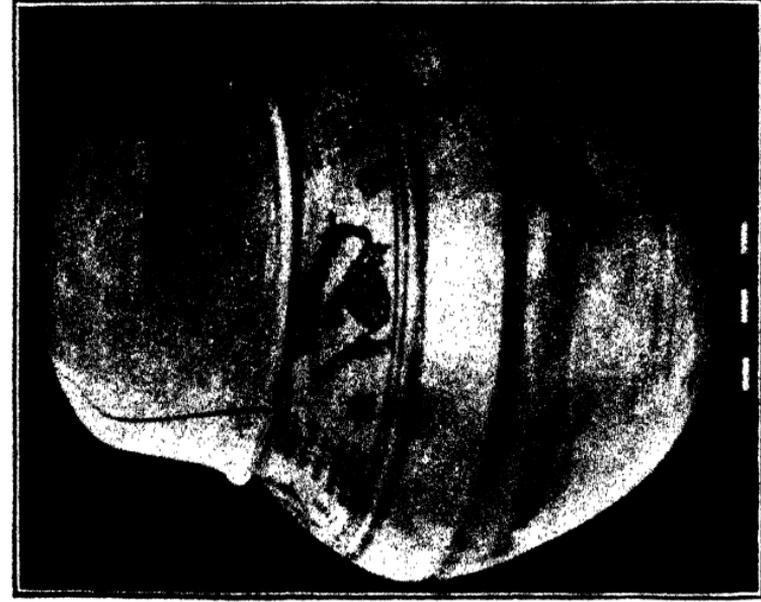
चि० सं० ११

चि० सं० २३

की दशाओं का परिचय देती हैं। श्री रामप्रसाद चंदा तो कहते हैं कि प्रथम शताब्दी में जो भगवान् बुद्ध और जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनीं उनकी परंपरा सिंधु-सभ्यता से आई थीं। प्रथम शताब्दी में जब योग का फिर प्रचार बढ़ा तो योग की दशाओं में मूर्तियाँ बनने लगीं*। मुद्राओं तथा पशुओं के चित्रण में एक अद्भुत विशिष्टता तथा ऐश्वर्य का दिग्दर्शन है। ये पशु शांतिमय मालूम होते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि ये पशु भारुत, साँची या अम्रावती के पशुओं की तरह किसी विशेष घटना में भाग नहीं लेते। किंतु पशुओं को जितना महत्व सिंधु-प्रांत की कला में मिला उतना ही उन्हें बाद के युगों की भारतीय कला में भी मिला है।

यदि हम मान लें कि पत्थर के कुछ सिर जीवितों की प्रतिकृतियाँ थीं तो हम सिंधु प्रांत की कला को यथार्थवादी कला के अंदर रखेंगे। पशुओं का चित्रण तो निस्संदेह यथार्थवादी है। कलाकारों ने जैसे जिस पशु को देखा वैसा ही उसका चित्रण किया। कदाचित् उस काल के कलाकार ध्यान-मंत्र का साधन नहीं करते थे। आदर्शवाद के झीने आवरण को जो कि भारतीय कला की एक विशेषता है, सिंधु-प्रांत-निवासी अपनी कला में कभी नहीं ला सके। कतिपय कला-मर्मज्ञों का ठीक ही कहना है कि उच्च कला में कलाकार के मनोवेगों, अनुभवों तथा दार्श-

* चंदा—मेडीवल इंडियन स्कल्पचर, पृ० १०।

निक विचारों की झलक होनी चाहिए। इन बातों के प्रभाव से अंकित हमें कोई उदाहरण सिंधु प्रांत में प्राप्त नहीं हुए हैं। संभव है भविष्य की खुदाइयों में हमें कुछ ऐसे उदाहरण प्राप्त हो सकें।

खिलौनों, योगी की मूर्ति तथा नर्तकियों का धर्म से विशेष संबंध है। संभवतः मोहें जो दड़ो की कला धर्म से भी कुछ सीमा तक प्रभावित हुई थी।

यदि हम संसार के कला-इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि कला का मूल धार्मिक भावनाओं में स्थित है। नरवंश विद्या के आधार पर भी प्रमाणित हो गया है कि प्राचीन काल की कला केवल धर्म ही से उत्पन्न हुई थी। डा० कुमार स्वामी का कथन है कि धर्म तथा कला एक ही अनुभव के दो भिन्न भिन्न नाम हैं। यह यथार्थता तथा समता द्वारा उत्पन्न अंतर्ज्ञान है*।

खेद है कि भास्कर शिल्प के कोई उच्च उदाहरण मोहें जो दड़ो में नहीं मिले हैं। केवल हड़प्पा के दो धड़ों को ही हम उच्च शिल्प की वस्तुएँ मान सकते हैं। अब तक प्राप्त मूर्तियों में कोई ऐसा उदाहरण नहीं है जिसकी तुलना हम मथुरा या सारनाथ के बुद्ध या गुप्त-काल की अन्य मूर्तियों के साथ कर सकें।

मोहें जो दड़ो में मूर्ति पूजा का प्रचलन था, यह मुद्राओं में अंकित दृश्यों से ज्ञात होता है। फिर मोहें जो दड़ो युग के बाद

---

* कुमारस्वामी—डान्स ऑव शिव, पृ० ३५-३६।

मूर्तिकला कई शताब्दियों तक अंधकार में विलीन हो जाती है। केवल मौर्य युग के पूर्व आकर हमें कुछ यक्ष-मूर्तियाँ मिलती हैं। किंतु इनका शिल्प अति साधारण है। इनमें केवल एक खूबी है, और वह यह है कि ये यक्ष-मूर्तियाँ चारों ओर से कोरी गई हैं। यह यक्ष-समूह इस अंधकारमय युग की टिम-टिमाती कला-परंपराओं पर उचित प्रकाश डालता है।

भारत में वास्तविक मूर्तिपूजा ईसा की पहली शताब्दी में प्रारंभ हुई। इसका सर्वप्रथम कारण तो भागवत धर्म का प्रचार था। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश है कि जो लोग श्रद्धा-पूर्वक अन्य देवताओं की पूजा करते हैं उन्हें भी वे मनोवांछित फल देते हैं—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।

× × ×

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥ *

गीता अ० ७, श्लोक २१-२२।

इस प्रकार भागवत धर्म की उत्पत्ति के साथ कर्मकांड से ऊबी जनता देवताओं का पूजन करने लगी*। इसी समय बौद्ध धर्म की महायान शाखा भी कार्य करने लगी। इस शाखा के प्रचारकों ने संसार को भगवान् बुद्ध की साकार उपासना के लिये आदेश दिया। इस कारण ई० पू० पहली

---

* आर्ट बुलेटिन, म्यूजियम, बोस्टन, जिल्द ६, नं० ४, पृ० १०-१२।

शताब्दी में मोहें जो दड़ो युग के बाद सर्वप्रथम पूजा की मूर्तियाँ बनीं।

मोहें जो दड़ो की मूर्तियाँ तो कुरूप हैं, किंतु मुद्राओं तथा पट्टियों पर अंकित पशु बड़े सुंदर हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यह अंतर कला में किस प्रकार आया। हमारे विचार से इसके तीन कारण हो सकते हैं—

(१) मोहें जो दड़ो नगर संस्कृति तथा सभ्यता की पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। यहाँ कई प्रकार की कलाएँ रही होंगी। कलाकारों की भी इच्छा रहती होगी कि वे अपने लिये नए साधन, नई शैली तथा नए रास्ते ढूँढ़ें। इस प्रकार मोहें जो दड़ो में कला की दो प्रमुख शाखाएँ थीं। एक शाखा के कलाकारों ने मुद्राओं तथा ताम्रपट्टियों पर चित्रांकन करने में कुशलता प्राप्त की और दूसरी शाखा के कलाकारों ने धार्मिक प्रतीक तथा मिट्टी के खिलौने बनाए। किसी विशेष कारण से वे इन वस्तुओं के सौंदर्य को बढ़ा नहीं सके।

(२) दूसरा कारण यह हो सकता है कि मोहें जो दड़ो में मुद्राओं तथा ताम्रपट्टियों का विशेष महत्व था। ये वस्तुएँ राज्य के किसी विभाग के अंतर्गत बनाई जाती रही होंगी। इस कार्य के लिये ऐसे कलाकार नियुक्त होते रहे होंगे जिन्होंने इस कला में विशेषता प्राप्त की थी।

(३) तीसरे, मोहें जो दड़ो एक ऐसा नगर था जिसमें कई वर्गों तथा जातियों के लोग रहते थे। ऐसे नगर में संभवतः

कुछ ऐसी भी आजीविका के लोग थे जो खुदाई के कार्य में बड़े कुशल थे। इन्हीं के द्वारा ये पट्टियाँ तथा मुद्राएँ बनी होंगी।

यह पता नहीं है कि कलाक्षेत्र में मोहें जो दड़ो के लोगों की कैसी गति थी। इतना हम कह सकते हैं कि यहाँ के लोगों का बौद्धिक जीवन बहुत बढ़ाचढ़ा नहीं था। उन लोगों की समझ, सूझ, चिंतन तथा मनन इतना गहरा तथा विशद न था कि वे उस उच्च दर्शन का निर्माण कर पाते जिससे हमारे वेद, पुराण, गीता, उपनिषद् तथा महाकाव्य भरे पड़े हैं। बौद्ध धर्म के 'दुःखवाद' तथा गीता के 'कर्मवाद' की वे कल्पना नहीं कर सके। और जब लोग इस उच्च दर्शन को समझने योग्य हुए तभी कला में मानवीय तत्व तथा दर्शन आया। जीवन की उस स्थूलता तथा ईश्वर की उस महत्ता को वे नहीं समझ सके जिसका पूर्ण दर्शन हमें रोदाँ तथा माईकेल एंजिलो की कृतियों में मिलता है। महान् कलाकार को कोरा यथार्थवादी ही नहीं होना चाहिए। उसमें कलाकारों के मनोवेगों, रहस्य-ज्ञान तथा कल्पना की हल्की उड़ान होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त महान् कला को जीवन के सन्निकट भी होना चाहिए।

दर्शन की यह कमी हम मौर्य-युग के पूर्व की यक्ष-मूर्तियों में भी पाते हैं। परखम, पवाया, वेसनगर, पटना इत्यादि स्थानों में प्राप्त यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियों में भी हम देखते हैं कि इनमें न तो मानवीय तत्व है और न आदर्शवाद का आवरण ही है। इन कलाकारों की सृष्टि में मनुष्य केवल एक साधारण

घटना की वस्तु है। वह उस नेता के रूप में नहीं आया जिसे हम बाद की भारतीय कला में पाते हैं*। हमारी धारणा है कि कला में मनुष्य का प्राधान्य होना चाहिए, क्योंकि कला का उद्गम मनुष्य से हुआ है और वह उसके जीवन के चारों ओर घूमती है। केवल कल्पना की आधारशिला पर खड़ी कला शून्य है—तत्वहीन है। व्यक्ति व्यक्ति में, समाज समाज में, आदर्श आदर्श में जब संघर्ष होता है तभी उच्च दर्शन और कलाएँ भी उत्पन्न होती हैं। संभवतः मोहें जो दड़ो में इन संघर्षों का विशेष महत्व नहीं था।

———

* रूपम—अप्रेल, १९२४, पृ० ६९।

सप्तम अध्याय

स्थापत्य

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में अनेक भवनों की दीवारें निकली हैं। खेद है कि कोई भी इमारत समूची नहीं बच सकी है। कई इमारतों की दीवारें इतनी भग्न हो गई हैं कि उनसे बनी इमारत के विषय में कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता, फिर भी एक सरसरी दृष्टि फेरने से ज्ञात हो जाता है कि सिंधु-प्रांत निवासी महान् निर्माणकर्ता थे और वे कई बातों में अन्य समकालीन सभ्यताओं के निर्माणकर्ताओं से बढ़े चढ़े थे।

मोहें जो दड़ो की इमारतों में अधिकतर पकाई हुई ईंटें प्रयोग में लाई गई हैं। इनकी बनावट बड़ी मनोहर है। यहाँ के कारीगरों ने मेसोपोटेमिया की तरह कभी दीवार के बाहर कुरूप ईंटें नहीं लगाईं। मेसोपोटेमिया में तो अधिकतर कच्ची ईंटें ही दीवारों के लिये प्रयुक्त होती थीं। मोहें जो दड़ो में पकाने से पहले ईंटें धूप में सुखा दी जाती थीं। कई ईंटों के ऊपर कुत्ते और कौओं के पंजों के चिह्न अंकित हैं और ऐसा ज्ञात होता है कि जब ये ईंटें गीली अवस्था में धूप में सुखाने के लिये रखी

गई थीं, उस समय ये पशु-पक्षी इनके ऊपर चले होंगे। ये सभी ईंटें पुलिनमय मिट्टी से बनाई जाती थीं। सबसे बड़ी ईंट का आकार २०·२५×१०·५×३·५ इंच और सबसे छोटी का ९.५×४.३५×२ इंच है। किंतु अधिकतर ईंटों का आकार ११×५½×२¾ या ५½×२¼×२¾ इंच का होता था। ये ईंटें किसी औजार या आरी से ठीक आकारों में काटी जाती थीं। भारत में किसी भी युग के कारीगरों ने इस सुलभ नाप की ईंटें नहीं बनाईं। सम्राट् अशोक के काल में ईंटों का आकार सिंधु-प्रांत की ईंटों से दुगुना हो गया था। संसार के अन्य किसी प्राचीन देश में इतनी अधिक मात्रा में ईंटें नहीं बनाई गईं। इसका एक कारण तो यह था कि अन्य देशों को पत्थर सरलता से प्राप्त हो जाया करता था, इसलिये उन्होंने ईंटों पर प्रयोग व्यर्थ समझा। सिंधु-प्रांत-निवासियों की वणिक् प्रवृत्ति थी और इस कारण उन्होंने अपने नगर के चारों ओर की मनों बालू का समुचित उपयोग किया।

मोहें जो दड़ो की ईंटों पर कोई कारीगरी नहीं है। ईंटों की ठीक नाप और उनका सफाई के साथ काटा जाना, यहीं तक सिंधु-प्रांत के कलाकार अपना कला-प्रेम दिखला सकते थे। उनमें वह मनोहर तथा चित्ताकर्षक कारीगरी नहीं है जिसे हम बाद में सारनाथ, भीतरगाँव तथा पहाड़पुर की ईंटों पर पाते हैं। समस्त खुदाइयों में केवल एक ईंट ऐसी मिली है जिसपर कोई चित्रलिपि खुदी है।

मिस्र देश में रोम-काल तक पकाई हुई ईंटें व्यवहृत नहीं हुई थीं। मेसोपोटेमिया में ऐसी ईंटें प्रयुक्त तो होती थीं किंतु बहुत ही कम मात्रा में। मेसोपोटेमिया में स्नानगृहों या शौचगृहों में ही पकाई हुई ईंटों का अधिक प्रयोग हुआ है।

दीवार चुनने से पहले उसकी दृढ़ता के लिये नींव में टूटी ईंटें डाल दी जाती थीं। धूप में सुखाई गई ईंटें केवल नींव में काम आती थीं। जिन मकानों की नींव असावधानी से डाली गई है वे संभवतः निर्धन व्यक्तियों के घर हैं। मध्य युग में जो इमारतें बनी थीं उनकी नींव असाधारण तथा दृढ़ है। मोहें जो दड़ो के मकानों की दीवारों में कोई भद्दा या कुरूप ईंटें नहीं लगाई गईं। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें बनाने से पहले सुंदर आकार की ईंटें चुन ली जाती थीं।

समय समय पर लोग पुराने मकानों की ईंटें नए मकानों के लिये ले जाने लगे। कुषाण-काल में तो स्तूप बनाने के लिये बहुत सी ईंटें पुराने मकानों से निकाली गई थीं। सिंधु प्रांत के मकानों में मिट्टी के गारे का प्रयोग होता था और इस कारण ईंटों के निकालने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती थी।

छोटे मकानों की दीवारें सीधी खड़ी रहती थीं पर बड़े मकानों की बाहरी दीवारें कुछ तिरछी कर दी जाती थीं। दीवारों में ईंटें खड़े या सम रूप में रखी जाती थीं। दीवारें बड़ी विशाल होती थीं। कुछ दीवारों के अंदर मलबा भी भरा जाता था। जिन प्राचीन दीवारों के ऊपर नई दीवार रखी

जातीं वे भी चिनाई करने से पहले समतल कर दी जाती थीं। यदि किसी दीवार के गिरने की आशंका होती तो उसके बाहर से सहायक दीवारें बना दी जाती थीं। दीवारों को चढ़ाते चढ़ाते ऊपरी भाग प्रायः तिरछा हो जाया करता था।

अंतिम युग की इमारतें अति साधारण हैं। इनमें ईंटें ठीक ढंग से नहीं काटी गई हैं और न वे दीवारों में उचित ढंग से जोड़ी ही गई हैं। अंतिम युग की दीवारों की चिनाई में ईंटों के बीच बीच में रिक्त स्थान भी हैं।

हड़प्पा के भवन मोहें जो दड़ो के सदृश विशाल नहीं थे। किंतु यह निर्विवाद नहीं है। क्योंकि हड़प्पा के निकट ही एक गाँव है; यहाँ के निवासियों को जब कभी ईंटों की आवश्यकता जान पड़ी, उन्होंने हड़प्पा के टीलों को खोदा और ईंटें निकाल ले गए। इसके अतिरिक्त अनेक भवन लाहौर-मुल्तान रेलवे लाइन बनाने के समय नष्ट हो गए होंगे।

मकानों की दीवारों पर पलस्तर के कम ही चिह्न रह गए हैं। केवल दो एक मकानों पर ही पलस्तर के चिह्न मिले हैं। मि० मैके तो कहते हैं कि सिंधु प्रांत के मकानों की बाहरी दीवारों पर भी पलस्तर लगाया जाता था। दीवारों पर पलस्तर प्रायः मिट्टी का ही होता रहा होगा। एक भवन में घास और मिट्टी मिश्रित जला हुआ पलस्तर प्राप्त हुआ था। कुछ मकानों पर संभवतः जिपशम पलस्तर भी लगता था। एक मकान के अंदर फर्श पर एक गड्ढे में जिपशम पलस्तर पाया गया है। इस

मकान की दीवारों पर लगाने के लिये इस गढ्ढे में यह पलस्तर तैयार किया गया रहा होगा। हड़प्पा के कुछ ईंटों के फर्शों पर तथा बारह गोल चबूतरों की चिनाई में भी जिपशम प्रयुक्त हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अंतिम युग में राजपथ पर स्थित भवनों की बाहरी दीवारों पर एक प्रकार का हलका नीले रंग का सीमेंट लगाया जाता था।

मकान प्राय: दो खंड के होते थे। इन मकानों की छत पर समतल फर्श होता था। मकानों के ऊपर की छत पिटी मिट्टी अथवा कच्ची या पक्की ईंटों की होती थी। इनमें पिटी मिट्टी की छतें अधिकतर प्रयोग में थीं। संपन्न व्यक्तियों के मकानों की छतों पर पकाई ईंटें रखी जाती रही होंगी। ऊपरी खंड के फर्श के नीचे कड़ियों के ऊपर छड़ियाँ और घास आदि डाल दी जाती थीं। इनके ऊपर फिर मिट्टी का फर्श बैठाया जाता था। कड़ियों का प्रयोग मोहें जो दड़ो में बहुत होता था। एक कमरे में बहुत सी जली राख पड़ी थी। इसकी दीवारों के झुलसने से ज्ञात होता है कि बीच के फर्श पर कड़ियाँ पड़ी थीं। दीवारों में कड़ियों के लिये छिद्र बने थे। खेद है कि दीवारों के ऊपरी भाग टूट गए हैं, इसलिये अधिकतर कड़ियों के छिद्र दिखलाई नहीं पड़ते। राजमहल सदृश भवनों पर चार कड़ियों के छिद्र हैं।

मोहें जो दड़ो के भवनों में आम सड़कों की ओर कम दरवाजे पाए गए हैं। दरवाजे प्राय: गलियों की ओर बनाए जाते थे।

दरवाजों पर लकड़ी की चौखट बैठाई जाती थी। इनके ऊपर धनुषाकार मेहराब नहीं बनती थी। मेहराबों के स्थान में लकड़ी के पटाव प्रयुक्त होते थे। केवल एक दरवाजे के ऊपर मेहराब दीख पड़ती है। यह बतलाना कठिन है कि दरवाजों की चौखटें कैसे खड़ी की जाती थीं। बगल की दीवारों पर तो चौखट फँसाने के कोई छिद्र नहीं हैं। संभवतः पटाव के भार से ही चौखटें खड़ी रह जाती थीं*। कुछ दरवाजे ऊँचाई में कम पर चौड़ाई में अधिक हैं; अनुमानतः इन दरवाजों से पशु आते जाते थे। खिड़कियों के बहुत ही कम चिह्न प्राप्त हुए हैं। शायद खिड़कियाँ कुछ ऊँचाई पर बनाई जाती थीं। यह भी संभव है कि अधिकतर वे ऊपरी खंड में बनाई जाती थीं। बड़े स्नानागार के कुछ कमरों में अवश्य खिड़कियाँ हैं। पत्थर की जालियाँ भी सिंधु-प्रांत-निवासियों को ज्ञात थीं। अलबास्टर की एक सुंदर जाली मिली है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अधिकतर जालियाँ मिट्टी की ही बनाई जाती थीं।

एक सुंदर ताँबे की बनी चटखनी जैसी वस्तु मोहें जो दड़ो में प्राप्त हुई है। चूँकि यह एक अधजली लकड़ी की कड़ी के साथ पाई गई थी, इसलिये यह माना जा सकता है कि यह किसी कड़ी को जोड़ने की कील थी†।

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० १६७।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० ४७६।

ऊपरी खंडों में जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी थीं। इन सीढ़ियों के अवशेष अभी तक दीख पड़ते हैं। ये सीढ़ियाँ बहुत कम चौड़ी हैं। इसका कारण संभवतः यह है कि मोहें जो दड़ो के मकानों में सदैव स्थान की कमी रहती थी। अभी तक बड़े आकारों की केवल दो सीढ़ियाँ मिली हैं। ये ८.५ इंच चौड़ी तथा २.२५ इंच ऊँची हैं। ये दोनों सीढ़ियाँ साथ साथ थीं। कुछ सीढ़ियाँ तो बिल्कुल पकाई ईंटों की बनती थीं, किंतु कुछ के बाहर से ही ईंटें लगती थीं। इनके अंदर कंकट आदि भरा जाता था। धनाढ्य लोगों के घरों में बड़े आकार की सीढ़ियाँ होती थीं। जिन मकानों में सीढ़ियाँ नहीं हैं वहाँ शायद लकड़ी की सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। वैसे तो स्नानागार के कुछ भागों से भी ज्ञात होता है कि उनमें लकड़ी की कुछ सीढ़ियाँ बनी थीं*।

एक बात विशेष रहस्य की यह है कि हड़प्पा के मकानों में बहुत ही कम सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। हड़प्पा की समस्त खुदाइयों में केवल तीन स्थानों में सीढ़ियाँ पाई गई हैं।

अंतिम युग में बहुत ही कम सीढ़ियाँ बनी थीं। उस समय मोहें जो दड़ो नगर में भिन्न भिन्न व्यवसायों वाले लोग बस गए थे। किंतु नगर समृद्धिहीन था। निर्धनता के कारण लोग दो खंड के मकान नहीं बना सकते थे†।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० १३३।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० १६६।

अँगीठियाँ या चूल्हे मकानों के बाहर बनते थे। इनके लिये प्रांगणों के एक कोने पर ऊँचा स्थान बना दिया जाता था। चूल्हों के ऊपर तो बर्तन रखे जाते थे और नीचे लकड़ी डालकर आग जलाई जाती थी।

कुछ मकानों के दरवाजों के अंदर जरा हटकर पर्दे के लिये दीवारें बनाई गई थीं।

सभी साधारण तथा असाधारण भवनों में कुएँ बने थे (चित्र सं० १७)। साधारणतः वे आकार में गोल हैं, किंतु दो कुएँ अंडाकार भी हैं। जनसाधारण के लिये कुएँ उचित स्थलों पर मकानों से बाहर बनते थे। किंतु कई घरों के निजी कुएँ भी बाहर के लोगों के लिये खुले थे। कुछ कुओं के निकट गड्ढे से बने हैं। उस काल में भी मोहें जो दड़ो नगर के कुओं पर बड़ी भीड़ रहा करती रही होगी। इस कारण अपनी बारी आने तक गाँवों की स्त्रियाँ इनपर अपने घड़ों को रख देती रही होंगी। कहीं कहीं कुओं के निकट तिपाइयाँ भी बनी हैं। इनपर बैठकर स्त्रियाँ प्रायः गपशप करती रही होंगी। कुछ कुओं के निकट बड़े बड़े घड़े भी रखे थे। संभवतः इनमें यात्रियों के लिये पानी भरा रहता था। भारत में जल-दान बड़ा पुण्य माना गया है। संभवतः नगर-निवासियों की ओर से ये घड़े यहाँ पर रखे गए थे।

कुओं के मुँह पर चारों ओर से एक दीवार बनी रहती थी। जैसे जैसे भूमि की सतह ऊँची होती गई वैसे वैसे इन दीवारों को भी ऊँचा किया गया। पानी संभवतः आज कल की ही तरह

चि० सं० १७

रस्सी द्वारा खींचा जाता था। कूप की मंडर का एक पत्थर रस्सी की रगड़ से घिसा मालूम होता है। ऐसी रगड़ से रक्षा के लिये कुओं की ऊपरी दीवारें सुदृढ़ बनाई जाती थीं। उद्धरण-यंत्र का भी निजी कुओं में प्रयोग होता रहा होगा*। कुछ कुओं के अंदर से सीढ़ियाँ भी बनी थीं। दो कुएँ बंद कर दिए गए थे। जान पड़ता है इन कुओं में गिरकर कुछ मनुष्यों की मृत्यु हुई थी।

हड़प्पा में अपेक्षाकृत बहुत ही कम कुएँ निकले हैं। समस्त खुदाइयों में यहाँ केवल छः कुएँ मिले हैं। ये कुएँ भी एक दूसरे से दूरी पर हैं। श्री वत्स ठीक ही कहते हैं कि हड़प्पा निवासी पीने के लिये ही इन कुओं से पानी लेते थे। अन्य कार्यों के लिये उन्हें नदी से पानी मिल जाता रहा होगा†। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि एक समय रावी नदी हड़प्पा के निकट होकर बहती थी।

आज ५००० वर्ष बाद भी इन कुओं की मजबूती को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। इनकी ईंटें इतनी सफाई के साथ चुनी गई थीं कि प्रकृति के अनेक प्रहारों से भी वे नष्ट नहीं हो सकी हैं। ये कुएँ साफ किए जाने पर आजदिन भी खूब काम दे रहे हैं।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २७०।

† वत्स—य० ह० पृ० १४।

अंतिम युग में कोई भी नया कुआँ नहीं बना था। उस समय नगर की समृद्धि जाती रही थी और लोग नए कुओं के बनाने के व्यय को वहन नहीं कर सकते थे। इस कारण इस समय लोगों ने पुराने कुओं की ही मरम्मत कर काम चलाया*।

कुछ कुओं के निकट नालियाँ भी बहती हैं। आधुनिक स्वास्थ्य-रक्षा-विभाग की दृष्टि से इन नालियों का कुओं के निकट होकर बहना उचित नहीं है। कभी कभी जब नालियों में बहुत पानी और कीचड़ बहता रहा होगा तो कुछ कीचड़ या पानी ऊपर बहकर कुओं के अंदर भी चला जाता रहा होगा। यह बतलाना कठिन है कि कुओं की नियमित रूप से सफाई होती थी या नहीं। किंतु जब नालियों की नियमित रूप से सफाई होती थी तो कोई कारण नहीं है कि इन कुओं की सफाई की भी उस काल में कोई व्यवस्था न रही हो।

मोहें जो दड़ो में कई घरों में निजी स्नानगृह थे। स्नानगृहों की प्रचुरता से ज्ञात होता है कि जलपूजा के अतिरिक्त यहाँ के निवासी निजी शुद्धता पर भी विशेष ध्यान देते थे। स्नानागारों के फर्शों पर ईंटें बड़ी सफाई के साथ लगाई जाती थीं। इनसे एक बूँद भी पानी नीचे नहीं जा सकता था। कुछ फर्शों के ऊपर लाल रंग का कोई पदार्थ भी लगा

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० १०।

चि० सं० १८

था। मि० मैके कहते हैं कि यह रंग मालिश के तेल या पसीने के कारण उत्पन्न हुआ है*। ऐसा ज्ञात होता है कि निजी घरों में ऊपरी खंड में भी स्नानगृह थे। इनका पानी साधारण नालियों में, जिनका लगाव बड़ी सड़कों से था, बह जाता था। इन कमरों में कुछ ऐसी वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं जिनके द्वारा शरीर का मैल निकाला जाता था। ये वस्तुएँ शायद झावाँ का काम देती थीं।

मोहें जो दड़ो में कुछ अच्छे ढंग के शौचगृह भी निकले हैं (चि०सं०१८)। कभी कभी ये स्नानगृहों के बगल ही में बना दिए जाते थे। हाथ पैर धोने के लिये जो फर्श हैं वे भी अति सुंदर तथा दृढ़ हैं। इस शैली के फर्श मेसोपोटेमिया में किसी भी युग में नहीं बने। यह सत्य है कि मेसोपोटेमिया की पूजा-पद्धति में हाथ पैर धोकर ही मंदिरों में प्रवेश किया जाता था, किंतु मेसोपोटेमिया में मंदिरों के निकट ही इस सुविधा के लिये कुएँ बना दिए गए थे। दूसरी ओर मोहें जो दड़ो में निजी मकानों में हाथ पैर धोने के लिये सुंदर गृह बनाए गए थे। संभवतः मोहें जो दड़ो और मेसोपोटेमिया की जल-पूजा-विधि तथा धार्मिक भावनाएँ भिन्न प्रकार की थीं†।

---

* मैके—फ़० य० मो०, पृ० १६६-६७।

† मार्शल – मो० इं० सि०, पृ० २५।

कुछ शौचगृह आजकल की ही तरह ऊपरी खंड में भी बनते रहे होंगे। निर्धन व्यक्ति खुले मैदानों में जाते थे। 'पौर' के प्रबंध से शौचगृह आधुनिक काल की ही तरह रात्रि में साफ कर दिए जाते रहे होंगे। बौद्ध स्तूप से लगभग ९०० फुट की दूरी पर एक बड़ा स्नानागार है (चि० सं० १९)। यह मध्य में ३९ फुट लंबा, २३ फुट चौड़ा तथा ८ फुट गहरा है। इसके चारों ओर कई बरामदे और प्रकोष्ठ हैं। दक्षिण की ओर एक लंबा प्रकोष्ठ है जिसके दोनों कोनों पर दो छोटे छोटे कमरे बने हैं। पूर्व की ओर छोटे कमरों की एक पंक्ति है। उत्तर की ओर बड़े आकार के कमरे थे। इस स्नानागार की दीवारें बड़ी दृढ़ हैं। दीवार के दोनों ओर तो पक्की ईंटें लगाई जाती थीं और बीच में कच्ची ईंटें डाली जाती थीं। तालाब की ईंटें भी दर्शनीय हैं। इनको किसी औजार से बड़ी सफाई के साथ काटा गया है। कुछ दीवारें ४ फुट ५½ इंच तक मोटी हैं। तालाब की बाहरी दीवार पर बिटूमन (गिरिपुष्पक) की एक तह है। बिटूमन का प्रयोग सिंधु प्रांत में कम हुआ है, किंतु सुमेर और बेबीलोन में इसका बहुत प्रयोग हुआ है। बिटूमन सिंधु नदी के किनारे स्थित ईसा खेल, यारी और सनाई पहाड़ियों (बलूचिस्तान) तथा हित में मिलता है। इन्हीं में से किसी स्थान से मोहें जो दड़ो में बिटूमन आया होगा। बिटूमन एक मूल्यवान् तथा कठिनाई से प्राप्त होनेवाला पदार्थ है और इसका स्नानागार की दीवारों पर प्रयुक्त होना इस स्नानागार की विशेष महत्ता को सूचित करता है। स्नानागार
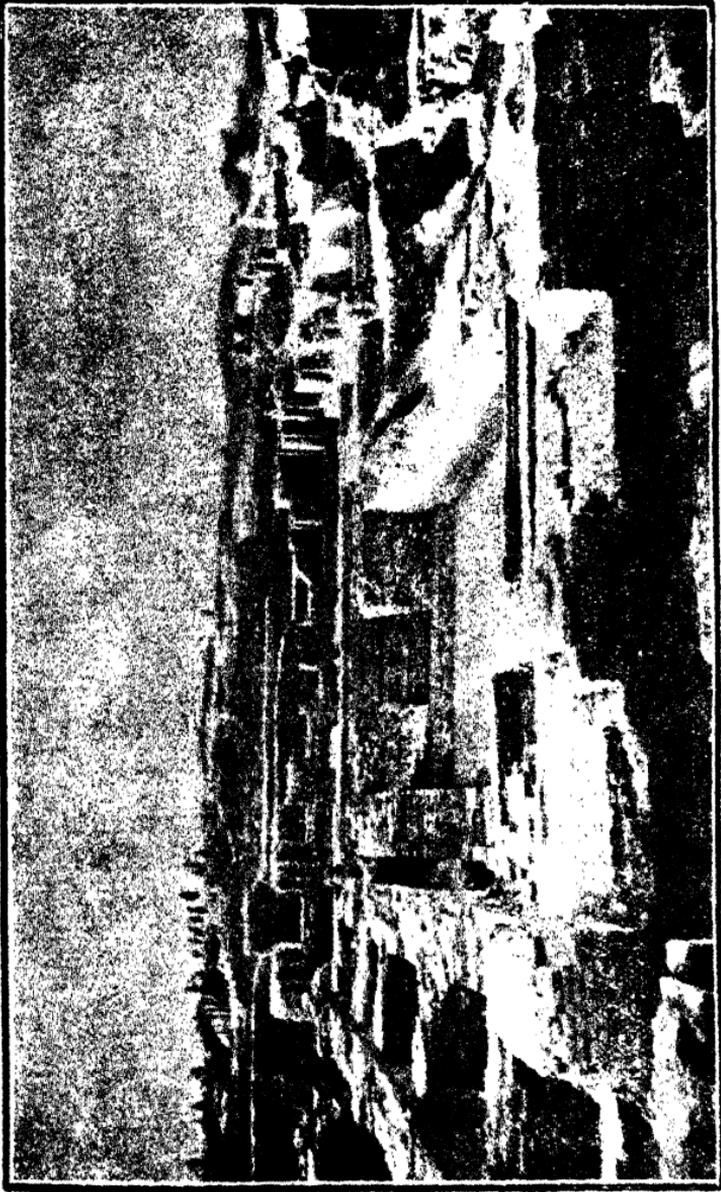
चि० सं० १६

के अंदर की दीवारों पर ईंट के बारीक चूर्ण तथा मिट्टी का मिश्रित पलस्तर लगाया जाता था* ।

विद्वानों का मत है कि इस स्नानागार का जल पवित्र समझा जाता था और इसमें लोग स्नान-पूजा करते रहे होंगे। इसके निकट ही संभवतः एक मंदिर भी था।

इस स्नानागार के दक्षिण में फर्श कुछ ढलुवाँ बना दिया गया है। यहाँ से १ फुट १ इंच चौड़ी तथा ६½ इंच गहरी मोरी है। इस मोरी से समय समय पर तालाब का जल बाहर निकाला जाता था। तालाब में नीचे जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी थीं। इसकी खुदाई करते समय यत्र तत्र कुछ जली राख भी मिली है। संभवतः स्नानागार के कुछ कमरे दो खंड के थे। उन्हीं की छत कभी जल गई रही होगी। स्नानागार में जाने के लिये छः दरवाजे थे।

स्नानागार के दक्षिण-पश्चिम की ओर पूरी तथा पक्की ईंटों की वेदियाँ बनी हैं। इनके निकट राख तथा जला कोयला मिला है। कुछ इमारतों की बनावट से पता लगता है कि उनमें हम्माम बने थे। इन इमारतों की दीवारों में स्थान स्थान पर ऐसे नल लगे हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इनमें गर्म जल भरा रहता था। हम्माम के अतिरिक्त यह भी संभव है कि इन नलों के द्वारा शीतकाल में कमरे गर्म किए जाते थे। चन्हूदड़ो के लोग भी संभवतः हम्माम से परिचित थे†।

---

* आ० स० रि० १९२५-२६, पृ० ७७।

† वही, पृ० ४४।

मोहें जो दड़ो में अनेक सुंदर नालियाँ बनी थीं। नालियों का इतना सुंदर प्रबंध प्राचीन काल के अन्य किसी देश में नहीं मिलता। मोहें जो दड़ो सदृश नगर में जहाँ घनी जन-संख्या के अतिरिक्त बाहर के लोग भी आया जाया करते थे, यह आवश्यक था कि सफाई का सुंदर प्रबंध रखा जाता। प्रत्येक सड़क तथा गलीयों में नालियाँ बनी थीं। नालियाँ २ इंच से लेकर १८ इंच तक गहरी हैं। एक प्रधान सड़क की बड़ी नाली में ही चारों ओर की गलियों की नालियाँ आकर मिलती हैं। घरों का पानी प्रायः मिट्टी के परनालों या नलों द्वारा भी बह जाता था। नालियाँ साधारण ईंटों की ही बनती थीं। इनको जोड़ने के लिये मिट्टी या चूना-जिपशम-मिश्रित पलस्तर लगाया जाता था। मध्य युग की एक नाली के पलस्तर में चूना भी मिला हुआ है। आश्चर्य होता है कि जिपशम को छोड़कर चूना इन लोगों ने क्यों पसंद किया। चूना तो कहीं अधिक मूल्यवान् होता है। मिस्र, बेबीलोन आदि देशों तक में चूना बहुत ही कम मात्रा में प्रयुक्त होता था*।

ये सभी नालियाँ ईंटों या पत्थरों से ढकी जाती थीं। चौड़ी नालियों पर बड़े पत्थर और बड़ी ईंटें लगाई गई थीं। नालियों में कभी कभी दंतक मेहराब भी बनी होती थी। नालियों के कीचड़ तथा कूड़े के लिये स्थान स्थान पर गड्ढे बने थे।

* मैके—फ० य० मो०, पृ० १६२।

नालियों से कीचड़ निकालकर इन गड्ढों में डाला जाता था। बाद में यह कीचड़ भी गड्ढों से निकाल दिया जाता था। ये गड्ढे गहरे भी हैं। कुछ गड्ढों में तो नीचे जाने के लिये सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। कभी कभी निजी घरों के परनाले बड़ी नाली में न गिरकर मकान के बाहर बने हुए नाबदानों में गिरते थे। ये नाबदान तले की ओर छिद्रवाले घड़ों की तरह होते थे। कुछ स्थानों पर ये घड़े चारों ओर से ईंटों से दबा दिए गए हैं। धनी लोग पक्की ईंटों के नाबदान बनवा लेते थे। सड़क की नालियों के किनारों पर रेत के कई ढेर मिले हैं और ऐसा ज्ञात होता है कि ये नालियाँ नियमित रूप से साफ की जाती थीं। इस प्रकार की नियमित सफाई से इन नालियों के पानी के बहाव में कोई रुकावट नहीं होती थी।

सिंधु प्रांत निवासी मिट्टी की नालियाँ या बंबे भी बनाते थे। इनके द्वारा भी मकानों का पानी बाहर निकाला जाता था।

कहीं कहीं गलियों की ओर की नालियों का पानी सीधे एक बड़े गड्ढे में जमा होता था और उन्हीं में समा या सूख जाता था। कूड़ा आदि बाद में जमादार उठा लेते रहे होंगे। चेटपुट (मद्रास) में भी प्राचीन काल के कई ऐसे गड्ढे मिले थे*। किंतु तक्षशिला और अन्य ऐतिहासिक युगों के जो गड्ढे हैं वे मोहें जो दड़ो के गड्ढों से कहीं अच्छे हैं।

---

* इंडियन एंटिक्वेरी, फरवरी १९३२, पृ० ३२।

निजी मकानों के अंदर कम नालियाँ होती थीं। संभवतः उस काल के भवनों में भोजन तथा स्नानगृह अधिकतर सड़कों की ही ओर बनते थे। इनका पानी एकदम सड़क पर चला जाया करता था। ऊपरी खंड से पानी निकालने में सदैव इस बात का ध्यान रखा जाता था कि पानी के छींटे आदि मार्ग में आने जानेवाले लोगों पर न पड़ें। जहाँ पर मिट्टी के परनाले या नालियाँ टूट जाती थीं वहाँ जिपशम का पलस्तर लगा दिया जाता था।

स्नानागार तथा शौचगृहों की नालियाँ प्रायः दीवारों में ही बना दी जाती थीं। इनमें संभवतः पानी एकदम ऊपर से नीचे के खंड तक निकल जाता था।

जैसे जैसे भूमि की सतह उठती गई वैसे वैसे इन नालियों को भी ऊँचा करने की आवश्यकता पड़ी। किंतु ऐसा थोड़े ही समय तक किया गया। बाद को तो पुरानी नालियाँ छोड़ देनी पड़ीं और इनके स्थान पर नई नालियाँ बनाई गईं। अंतिम युग में नालियों की देख भाल के लिये कोई रक्षक नियुक्त नहीं रहता था। बाद की नालियाँ लापरवाही से बनाई गई हैं। इस युग में लोग मनमाने ढंग से जहाँ चाहते नालियाँ बना लेते थे।

मेसोपोटेमिया के इश्नूना नगर में भी नालियों का वैसा ही प्रबंध था जैसा कि मोहें जो दड़ो में था*। किंतु मिस्र की

---

* मैके—फ़० य० इ०, पृ० १७०।

चि० सं० १४

चि० सं० २५

चि० सं० १६

नालियाँ इतनी सुंदर नहीं थीं। मोहें जो दड़ो की कई नालियों में तो जोड़ के चिह्न तक नहीं दिखाई पड़ते।

मोहें जो दड़ो निवासी नगर-निर्माण-प्रणाली से पूर्णतया परिचित थे। संभवतः उचित स्थान चुनने के बाद नगर का एक नकशा बना दिया जाता था। इस नकशे में यह दिखाया जाता था कि कहाँ पर कौन मकान बनेंगे और किस दिशा की ओर प्रधान सड़कें बनाई जायँगी। सड़कें एक दूसरी से प्रायः सम-कोणों पर कटती हैं। ये सड़कें बिल्कुल सीधी हैं (चि० सं० १४)। एक लंबी सड़क, जिसको राजपथ नाम दिया गया है, पौन मील तक साफ की गई है। यह सड़क कहीं कहीं पर ३३ फुट चौड़ी है। गलियाँ ३ फुट से ७ फुट तक चौड़ी होती थीं। प्रधान सड़कें पूर्व से पश्चिम या उत्तर से दक्षिण को जाती थीं। इन सड़कों पर स्थित भवनों को शुद्ध हवा मिलती रही होगी। हवा का एक तेज झोंका एक कोने से दूसरे कोने तक की हवा को शुद्ध कर देता रहा होगा। इधर उधर की सब गलियाँ राजपथ से मिल जाती थीं। प्रायः सभी सड़कें समानांतर हैं। इस समय सबसे महत्वपूर्ण सड़क वह है जो दक्षिण की ओर जाती हुई स्तूप-भाग को दो भागों में बाँटती है। इन सड़कों पर पहिएवाली तीन गाड़ियाँ तथा पैदल मनुष्य अच्छी तरह चल सकते रहे होंगे (चि० सं० १६ तथा २०)।

मोहें जो दड़ो की किसी भी सड़क पर ईंटें नहीं बिछी हैं। इस कारण वर्षा के दिनों में इन सड़कों पर कीचड़ भर जाता

रहा होगा। फिर न जाने इन सड़कों पर बैलगाड़ियाँ या रथ, जिनका मोहें जो दड़ो में इतना अधिक प्रचार था, कैसे चलते रहे होंगे। एक सड़क पर कुछ टूटे बर्तनों तथा ईंटों के टुकड़े पड़े थे। शायद किसी समय यहाँ के नगरपतियों ने इन सड़कों पर इन चीजों के बिछाने का प्रयत्न किया होगा। प्रयोग के लिये ही ये चीजें इस सड़क पर डाली गई थीं।

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि सड़कें सदैव स्वच्छ रखी जाती थीं। ग्रीष्म ऋतु में जब धूल उड़ने का डर रहता था तो संभवतः सड़कों पर पानी छिड़कने का कोई प्रबंध कर दिया जाता था।

द्वितीय युग की एक सड़क के दोनों ओर लंबे और कुछ ऊँचे चबूतरे हैं। इनपर या तो रात्रि के समय लोग सोते रहे होंगे या इनपर हाट लगती रही होगी। ये दूकानें रात्रि में ८, ९ बजे तक खुली रहती और उसके बाद आजकल ही की तरह उठा ली जाती रही होंगी*।

सड़कों के मोड़ पर कई मकानों के कोने घिसे मालूम होते हैं। संभवतः ये कोने बोझा ढोनेवाले पशुओं द्वारा घिसे गए थे जिनकी पीठ पर बड़े बड़े बोरे आदि रहते थे। किंतु कुछ मकानों के कोने तो जान-बूझकर गोल कर दिए गए थे। प्राचीन उर में भी सड़कों के किनारों पर स्थित मकानों की दीवारों पर ऐसी ही रगड़ तथा गोलाई दीख पड़ती है।

---

* आ० स० रि० १६२६-३०, पृ० १००।

एक प्रधान सड़क का अंतिम भाग द्वितीय युग में बंद कर दिया गया था। यहाँ पर एक चबूतरे पर पाँच गड्ढों की दो समानांतर पंक्तियाँ थीं। इन गड्ढों में रुकावट के लिये स्तंभ जड़े रहे होंगे। मि० मैके का अनुमान है कि इस स्थान पर एक चुंगीघर था। कौटिल्य के अमर ग्रंथ अर्थशास्त्र में भिन्न भिन्न प्रकार के करों का उल्लेख है। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि बिक्री का माल सबसे पहले नगर के प्रमुख द्वार पर स्थित चुंगीघर में लाया जाता था। यहाँ पर फिर बोलियाँ बोली जाती थीं। जब माल की वास्तविक बिक्री हो जाती थी तभी विक्रेता से कर लिया जाता था*। संभव है ऐसी ही कर-प्रणाली सिंधु प्रांत में भी रही हो। इस प्रबंध को देखकर हमें पूर्ण विश्वास हो जाता है कि मोहें जो दड़ो नगर का प्रबंध कोई उच्च संस्था करती थी।

सड़कों पर उचित स्थलों पर कूड़ेखाने बने थे। निजी घरों में भी लोग अपने अपने कूड़ेखाने रखते थे। हड़प्पा के कूड़ेखाने धरती में गड्ढे खोदकर ही बनाए जाते थे। इन कूड़ेखानों की सतह पर ईंटें बिछी हैं। नौकर लोग घरों में झाड़ू बुहारू देकर कूड़े को इन्हीं गड्ढों में फेंक देते थे। मोहें जो दड़ो में तो नगर के निकट ही ढेरों कूड़ा फेंका जाता था। इससे नगर में कुछ गंदगी फैलती रही होगी †।

---

* कौटिल्य—अर्थशास्त्र, २, २५।

† आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० ५७।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में अनेक विचित्र घरों की दीवारें निकली हैं। कुछ विशेष घरों को सर जॉन मार्शल मंदिर बतलाते हैं*।

एक बड़े भवन को सर जॉन मार्शल तथा रा० ब० दयाराम साहनी ने खोदा था। इसके पूर्वी भाग में १२ समानांतर तथा ५२ फीट लंबी दीवारें हैं। इसकी बनावट से पता लगता है कि यह एक भंडारघर था। हमारा अनुमान है कि प्राचीन काल में मोहें जो दड़ो की सरकार को नगर-निवासी अन्न के रूप में ही कर आदि देते थे। यह अन्न संभवतः इसी भवन में एकत्र होता था। ऋग्वेद में यह कर 'बाली' कहलाता था। प्राचीन काल में राजा को कर रूप में उपज का ⅙ भाग देने की प्रथा थी और यह कर कौटिल्य के काल में भी प्रचलित था†।

ऋग्वेद युग में अन्न-संग्रह करने की विविध प्रथाएँ थीं। इसमें वर्णित शब्द 'खल', 'उपानस' तथा '...' तिर्दर—अन्न-संग्रह के भिन्न भिन्न ढंगों को सूचित करते हैं‡।

हड़प्पा के कुछ भवनों को भी अन्नभंडार माना गया है§। इन मकानों की दीवारें बड़ी दृढ़ हैं और कहीं कहीं

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २०४।

† घोषाल—हिंदू रेवन्यू सिस्टम, पृ० ३५।

‡ देखिए—ऋग्वेद, १, ४८, ७; २, १४, ११; २, १४, २।

§ ऐ० वि० इं० आ०, जिल्द १२, १९३७, पृ० २।

वे ९ फुट तक मोटी हैं। ये भवन दो लंबी पंक्तियों में एक दूसरे के सामने हैं। प्रत्येक पंक्ति में ६ बड़े बड़े भवन हैं। इन भवनों को भी छोटी छोटी दीवारों द्वारा कई भागों में बाँटा गया है। इन छोटी दीवारों के ऊपर लकड़ी की कड़ियाँ रखकर उनके ऊपर फर्श बैठाया जाता था और उसी पर अन्न रखा जाता था। इन भवनों में अनाज रखने के अनेक बड़े बड़े घड़े भी मिले हैं।

मोहें जो दड़ो के बड़े स्नानागार के उत्तर में छोटे छोटे स्नान-गृहों का एक समुदाय है। ये स्नानगृह भी दो पंक्तियों में हैं। इनके बीच में एक तंग गली है जिसके नीचे एक नाली बहती है। ये सभी कमरे बड़े अच्छे ढंग की ईंटों से बिछे हैं। कमरों का फर्श दरवाजे की ओर ढलुवाँ है। इसी ओर से पानी बाहर निकल जाता था। इन कमरों में सीढ़ियाँ होने से अनुमान किया जाता है कि ये मकान भी दो खंड के थे*। नीचे के कमरों के दरवाजे बहुत तंग हैं। मि० मैके कहते हैं कि इन मकानों में साधक या पुजारी रहते थे। वे पूजापाठ तथा ध्यान तो ऊपरी खंड में करते रहे होंगे और नीचे के कमरों में स्नान करते रहे होंगे। इन साधकों के लिये यह आवश्यक था कि वे संसार के कोलाहल से दूर रहें।

---

* आ० स० रि० १९२७-२८, पृ० ७० ।

स्तूप के निकट एक विशाल भवन था। इस भवन की एक दीवार २३०.७ फुट लंबी तथा ७८.५ फुट चौड़ी थी। बाहर की दीवारें कहीं कहीं ४ फुट मोटी हैं। संभवतः यह भवन दो या तीन खंडों का था। इसमें कई बरामदे तथा प्रकोष्ठ थे। भवन के प्रमुख द्वार से प्रवेश करते ही एक स्वागत करने का बड़ा कमरा था। आश्चर्य है कि इस भवन में जल का कोई कुआँ नहीं है। इस भवन में संभवतः प्रधान महंत या साधु-समुदाय का कोई प्रधान रहता रहा होगा। इसमें रहने के कमरे दक्षिण की ओर थे और अन्य कार्यों के लिये भी उचित स्थानों पर कमरे बना दिए गए थे। इस भवन में बाद में कई जातियों के लोगों ने आवश्यक परिवर्तन किए थे। बाद की बनी दीवारें अति साधारण हैं*।

एक महत्त्वपूर्ण इमारत को राजमहल माना गया है। इसकी दीवारें ७ फुट मोटी हैं। अन्य दीवारें केवल ३ फुट मोटी हैं। इसकी विचित्र तथा विशद बनावट से ज्ञात होता है कि यह राजभवन था। आज इस भवन की केवल नींवें ही दीख पड़ती हैं†।

स्नानागार के निकट मध्ययुग का एक स्तंभाधार सभाभवन है। इसकी छत २० समचतुरस्र स्तंभों पर टिकी थी। प्रत्येक पंक्ति

* मैके—फ० य० मो०, पृ० १०-१३।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ४६।

में ४ या ५ स्तंभ थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आवश्यकतानुसार समय समय पर इस भवन में परिवर्तन किए गए थे। मि० मैके इसे एक दूकान बतलाते हैं, किंतु श्री दीक्षित कहते हैं कि यह भवन धार्मिक वाद-विवादों के निमित्त बना था। दूसरी ओर सर जॉन मार्शल इस भवन की तुलना बौद्धकालीन गुफा-भवनों से करते हैं। इस भवन के बीच में प्रधान के लिये संभवतः एक चौकी बनी थी और अन्य लोगों के लिये किसी अस्थायी पदार्थ के आसन बनाए गए थे*।

पटने में भी डा० स्पूनर ने सैकड़ों वर्ष बाद का एक १०० स्तंभों का सभाभवन खोद निकाला था। कतिपय विद्वानों ने इस भवन की तुलना पर्सिपोलिस के एकेमेनियन सभाभवनों से करके इस बात की पुष्टि की है कि पाटलिपुत्र के भवनों की रूप-रेखा एकेमेनियन भवनों की ही शैली पर तैयार की गई थी†। किंतु यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर हम कह सकें कि भारत का एकेमेनियन संस्कृति के साथ कोई सीधा संबंध था‡। मोहें जो दड़ो की खुदाइयों से यह प्रमाणित हो गया है कि भारतवासी ५००० वर्ष पूर्व भी स्तभोंवाले भवनों से परिचित थे।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २०५।

† आ० स० मे०, नं० ३०, पृ० ११-१२।

‡ विशेष विवरण के लिये देखिए 'रूपम' सं० ३५-३६।

सड़कों के किनारे के कुछ बड़े बड़े कमरों में गड्ढे हैं। इन गड्ढों में मिट्टी के बड़े बड़े घड़े रखे जाते थे। ये शायद होटलों के कमरे थे और इन घड़ों में कोई मादक पदार्थ भरा रहता था। प्राचीन भारत में राजा को मदिरा की बिक्री से अच्छी आमदनी होती थी। कौटिल्य ने राज्य-कर्मचारियों की सूची में एक सुराध्यक्ष का भी उल्लेख किया है*। यह भी संभव है कि इन कमरों में प्याऊ स्थित रहे हों और घड़ों में शुद्ध जल भरा जाता रहा हो। जल का यह प्रबंध नगरसभा की ओर से होता रहा होगा। मोहें जो दड़ो के एक कमरे में तो एक कुआँ भी बना था। इसके निकट ही घड़ों को रखने के लिये कुछ गड्ढे बने थे। यह भी एक प्याऊ था†।

प्रत्येक घर में एक एक आँगन होता था। इसी आँगन के एक कोने पर भोजनगृह बना रहता था। दो खंड के घरों में संभवतः पृथक् पृथक् परिवारों के लोग रहा करते थे। इस कारण सीढ़ियाँ प्रायः बाहर ही से बनती थीं। जैसे जैसे कुटुंबों में व्यक्तियों की संख्या बढ़ती गई, घरों का भी विभाजन होता गया। स्थान की कमी के कारण लोग उद्यान नहीं बना सकते थे। घरों को बनाते समय सदैव इस बात का ध्यान रखा जाता था कि वे सड़कों में किसी प्रकार बाधक न हों।

---

* कौटिल्य—अर्थशास्त्र, २.२५।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २०५।

घरों में पहले बड़े कमरे बना लिए जाते थे। उसके बाद उनका छोटे छोटे कमरों में विभाजन होता था। विभाजन की दीवारें सदैव बड़े कमरों की दीवार से हटकर होती थीं। एक की दीवारों में दूसरे की ईंटों का प्रवेश नहीं कराया जाता था*।

एक स्थान पर १६ इमारतें खोदी गई हैं जिनका प्रवेशमुख प्रधान सड़क की ओर था। ये सब भवन एक ही तरह के हैं। प्रत्येक भवन में एक कमरा सामने तथा दो कमरे पीछे की ओर बने हैं। अंदर के कमरों में हाथ-मुँह धोने के लिये भी एक स्थान बना था। यह संभवत: दूकानों का एक समूह था†।

एक दूसरी प्रधान सड़क के भी, जो नगर के उत्तर-पश्चिम की ओर जाती है, दोनों ओर बड़े बड़े भवन हैं। इन भवनों की दीवारें बड़ी दृढ़ हैं। संभवत: इन भवनों में बाहर से आनेवाले पशु और सामान रखे जाते थे।

कुछ छोटे छोटे मकानों में दरवाजे या खिड़कियाँ नहीं हैं। ये शायद तहखाने थे। इनमें जाने के लिये ऊपर से सीढ़ी रखी जाती रही होगी।

दीवारों के कुछ खाली स्थानों को देखकर ज्ञात होता है कि इन स्थानों पर आलमारियों की चौखटें जड़ी रहती थीं। आलों के सदृश भी कुछ छिद्र हैं।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २७२-७३।

† आ० स० रि०, १९२६-२७, पृ० ७७-७८।

हड़प्पा में बारह विचित्र वृत्ताकार वेदियाँ मिली हैं। ये चार गोल ईंटों की तहों से बनी हैं। इनकी चिनाई में मिट्टी का ही पलस्तर पाया गया है। किंतु बाहर से ईंटों के जोड़ों पर जिपशम का पलस्तर लगा था। इन वेदियों के मध्य में गहरे गड्ढे थे जिनमें जली राख, गेहूँ तथा जौ पड़े थे। यह ज्ञात नहीं कि ये वेदियाँ किस कार्य के लिये बनी थीं*। संभवतः ये हवन की वेदियाँ थीं।

दो अलग अलग कुटुंबों के घरों के बीच सदैव कुछ स्थान छोड़ दिया जाता था जिससे किसी प्रकार के झगड़े की आशंका न रहे। इससे ज्ञात होता है कि मोहें जो दड़ो निवासी अपने जीवन को कितना शांतिमय रखना चाहते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि मोहें जो दड़ो नगर में रात्रि के लिये पहरेदार नियुक्त थे। इन पहरेदारों के लिये सड़कों के कोनों पर कमरे बने थे। इन कमरों के दरवाजे सदैव प्रधान सड़क की ओर होते थे। मि० मैके का अनुमान है कि मोहें जो दड़ो नगर रक्षा के लिये कई भागों में विभाजित था। सड़कों पर कहीं कहीं दीवारें बना दी गई हैं। ऐसी ही दीवारों से संभवतः नगर के विभिन्न भागों की सीमा बनाई जाती थी। सुचारु शासन के लिये मौर्य काल में तो नगर चार

---

* वत्स—य० इ०, पृ० ७४।

भागों में बाँटे जाते थे, पर यह ज्ञात नहीं कि मोहें जो दड़ो नगर कितने भागों में विभाजित था।

गरीब लोगों के मकान सदा नगर से दूर बनते थे। चन्हू दड़ो की खुदाई से ज्ञात होता है कि वहाँ के कुछ मकानों की दीवारें घास-फूस की बनाई गई थीं। वहाँ अनेक स्थानों पर केवल फर्श और अँगीठियाँ ही दीख पड़ती हैं।

गरीब लोगों के पास इतना धन नहीं था कि वे अपने मकानों के लिये पकाई ईंटें खरीद या बनवा सकते। हड़प्पा में कई मकान कच्ची ईंटों के बने थे। इसके अतिरिक्त हड़प्पा के दक्षिण-पश्चिमी भाग में बाँस तथा लकड़ी के छड़ों की जली राख पाई गई थी। यह अनुमान किया जाता है कि इस भाग में बाँस तथा घास-फूस की झोंपड़ियाँ थीं*। कुछ मकानों की दीवारें केवल मिट्टी की बनी थीं, जैसी आजकल भी देहातों में बनाई जाती हैं। इनमें कभी कभी दीवार के निम्न भाग या नींव में ईंटों के टुकड़े डाल दिए जाते थे। पतली दीवारें तो मूल से ऊपर तक केवल मिट्टी ही की बनी हैं।

सबसे छोटे मकान ३०×२७ फुट नाप के थे। इनमें प्राय: ४ या ५ रहने के कमरे होते थे। बड़े मकानों का आकार प्राय: इनसे दुगुना होता था। इन मकानों में छोटे छोटे तीस कमरे तक रहते थे।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० १६३।

नगर के किस भाग में किस आजीविका के लोग रहते थे, यह बतलाना कठिन है। मोहें जो दड़ो नगर के स्थापित होने के समय तो मकान केवल रहने के लिये बनाए गए थे, किंतु पीछे यह एक व्यापारिक नगर हो गया था। मोहें जो दड़ो के एक भाग में मिट्टी के टूटे और जले बर्तन तथा भट्टे दिखाई पड़ते हैं। यहाँ संभवतः कुंभकारों का मुहल्ला था। यह मुहल्ला तब बसा होगा जब मोहें जो दड़ो की सभ्यता गिर रही थी*। अन्यथा कुम्हारों को इस नगर में स्थान मिलना कठिन होता। हड़प्पा में भी कुछ घरों को मजदूरों के घर माना गया है। इन घरों के वहुत ही कम चिह्न बच सके हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि ये बड़ी सावधानी के साथ बनाए गए थे। प्रत्येक घर में तीन कमरे तथा एक आँगन था। संभवतः आँगनों में भी ईंटें बिछी रहती थीं। गोल स्तंभ जिनका इतना प्रचार सुमेर तथा मेसोपोटेमिया में था, मोहें-जो दड़ो और हड़प्पा में प्राप्त नहीं हुए हैं। सर जॉन मार्शल के मतानुसार सिंधु प्रांत में शहतीरों के खंभे प्रयोग में लाए जाते थे। खंभों के चार आधार भी मोहें जो दड़ो में प्राप्त हुए हैं। इन आधारों में शहतीरों के लिये छिद्र बने हैं।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में भवनों के सजाने की कोई वस्तु नहीं मिली है। यदि भवन केवल साधारण ईंटों ही के बनते

---

* दीक्षित – प्री० सि० इं० वे०, पृ० २२।

थे तो एकरूपता के कारण वे अधिक सुंदर नहीं होते रहे होंगे। चिरकाल से भारत सजावट और आडंबर के लिये प्रख्यात रहा है। इस आडंबर-प्रेम का उदय बहुत कुछ स्वर्ण-कार की कला से हुआ है, क्योंकि भारतीय कला में बहुत कुछ ऐसा अलंकरण है जो सीधा स्वर्णकार की कला से आया है*। अजंता, अलौरा, बाँकुड़ा, खजुराहो, भुवनेश्वर तथा दिलवाड़ा के मंदिरों की कला भारतीय आडंबर-प्रेम के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। सर जॉन मार्शल ठीक कहते हैं कि "आडंबर-प्रेम भारतीय कलाकार का जन्मसिद्ध अधिकार है। महात्मा बुद्ध की मूर्तियों में, अजंता में, हिंदू-जैन मंदिरों तथा मुगल सम्राटों के भवनों में, सभी जगह यह आडंबर-प्रेम देखा जा सकता है"†।

किंतु इस आडंबर से मोहें जो दड़ो का स्थापत्य अछूता है। शायद दुमंजिले मकानों में जँगले और खंभे लकड़ी के होते थे। इनपर ही कारीगरी की जाती रही होगी। यह निर्विवाद है कि प्राचीन सिंधु प्रांत में लकड़ी प्रचुर मात्रा में मिल जाती थी।

मोहें जो दड़ो की ईंटें सिंधु-सभ्यता की गौरव की वस्तुएँ हैं। किंतु न जाने किन कारणों से इनपर कारीगरी नहीं

---

* ग्रूनवेडल—बुद्धिस्ट आर्ट इन इंडिया, अँगरेजी में जेम्स बर्जेज द्वारा अनूदित, पृ० ३०-३१।

† रूपम—अप्रेल १९२४, पृ० ६४।

की गई। ईंटों को भिन्न भिन्न ढंगों से दीवार में चुनने को ही शायद वहाँ के निवासी सजावट मान लेते थे*।

इन सब बातों को देखने से पता चलता है कि सिंधु प्रांत के निवासी उपादेयता की ओर अधिक ध्यान देते थे। लौकिक दृष्टिकोण से वे अलंकरण को व्यर्थ समझते थे।

मानसार शिल्पशास्त्र से ज्ञात होता है कि भारत ने प्राचीन काल में स्थापत्य सिद्धांतों में कितनी उन्नति कर ली थी। मानसार में निर्माणकार या 'स्थपति' की योग्यता के विषय में लिखा है कि उसे बौद्धिक तथा सांस्कृतिक दिशाओं में पूर्ण विज्ञ होना चाहिए। प्राचीन काल में भवन बनाने से पहले कई बातों की परीक्षा की जाती थी। सबसे उपयुक्त स्थान वह समझा जाता था जो पूर्व दिशा की ओर हो और ढलुवाँ हो। इस दिशा से भवन पर सूर्य की किरणें ठीक पड़ती हैं। भूमि की परीक्षा मिट्टी को सूँघने, चखने तथा इन्द्रिय-अनुभव से होती थी। हैवेल साहब की धारणा ठीक है कि रहस्यवाद के अंतर्गत होते हुए भी भारतीय स्थापत्य सिद्धांतों में एक बड़ा वैज्ञानिक ज्ञान भरा पड़ा है†। सिंधु प्रांत में भी स्थापत्य-विज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था।

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० १६।

† हैवेल—एंशंट ऐंड मेडीवल आर्किटेक्चर ऑव् इंडिया, पृ० ७-८।

फर्ग्यूसन तथा अन्य अनेक विद्वानों की धारणा है कि अशोक के काल से पहले भारत में इमारतें केवल लकड़ी ही की बनती थीं। डा० वैडेल तथा स्पूनर ने भी पाटलिपुत्र की खुदाइयों से यही प्रमाणित किया था*। इन बातों की पुष्टि मेगस्थनीज के वर्णनों से भी होती है†।

मोहें जो दड़ो तथा सिंधु प्रांत में पत्थर का कम प्रयोग हुआ है। पत्थर केवल विशेष इमारतों के लिये प्रयुक्त होते थे। श्वेत या पीले रंग का पत्थर सिंधु नदी के तट पर स्थित सक्खर नामक स्थान से प्राप्त होता था। संगमरमर और खड़िया पत्थर किरथर पहाड़ियों से आता था।

अलबास्टर नमक की पहाड़ियों, गुड़गाँव तथा काँगड़ा प्रदेश से प्राप्त किया जाता था।

मोहें जो दड़ो की नगर-निर्माण प्रणाली वास्तव में बड़ी विशद थी। श्री दीक्षित तो कहते हैं कि ऐसी उत्तम प्रणाली संसार के अन्य किसी प्राचीन देश में देखने को नहीं मिलती। पर अंतिम युग में मोहें जो दड़ो का स्थापत्य गिरता हुआ प्रतीत होता है। उस समय देखभाल के लिये कोई इंजीनियर या ओवरसियर नहीं थे। लोग बिना सोचे समझे मकान बनाने

---

* आ० स० रि०, १९१२-१३, पृ० ७६।

† वैडेल—रिजल्ट्स ऑव् एक्सकैवेशन्स ऐट पाटलिपुत्र, पृ० ६४। अर्यान—इंडिका, ६०।

लगे थे। अनेक सड़कों को मकानों की दीवारों ने दबा लिया था। कभी मकान सड़कों से बहुत दूर बनते थे तो कभी बिल्कुल निकट। इससे नगर की सुषमा बिगड़ गई थी। इस युग में दो खंड के मकानों का भी अभाव पाया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने यश के दिनों में मोहें जो दड़ो के चारों ओर किलेबंदी थी, यद्यपि उसकी दीवारों के कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं। प्राचीन काल के सभी नगरों में किलेबंदी की जाती थी। यह बात यूनानियों द्वारा लिखित वर्णनों से ही प्रमाणित नहीं होती बल्कि साँची तथा भारुत की कला से भी यही ज्ञात होता है। यदि मोहें जो दड़ो में कोई किलेबंदी थी तो उसके अवशेष बालू के नीचे कहीं दबे होंगे।

सिंधु प्रांत में श्री मजूमदार को अली मुराद तथा कोहत्रास नामक स्थानों में किलेबंदी के चिह्न प्राप्त हुए हैं। किंतु सिंधु-प्रांत में पत्थर की कमी के कारण प्रत्येक स्थान पर किलेबंदी करना आसान काम नहीं था*।

भारत में अति प्राचीन किले की दीवारें अब राजगृह में ही दीख पड़ती हैं। श्री धम्मपाल का अनुमान है कि इस स्थान की रूपरेखा प्रसिद्ध स्थापत्य-विशारद महागोविंद ने तैयार की थी†।

---

* आ० स० मे० नं० ४८, पृ० १४७-४८।

† विमानवत्थु, कमेंटरी पृ० ८२।

इन दीवारों के निर्माणकाल का कुछ पता नहीं है। इसके बाद हम स्ट्रैबो से सुनते हैं कि मौर्य-काल में पाटलिपुत्र के चारों ओर ५६० गुंबज सहित लकड़ी की किलेबंदी थी*।

——

* मैक्क्रिंडिल—एंशंट इंडिया, पृ० ४२।

अष्टम अध्याय

अन्य देशों के साथ संबंध

सिंधु प्रांत की सभ्यता के पिछले वर्णन से पाठकों को इसकी संस्कृति के विषय में बहुत कुछ ज्ञात हो गया होगा। इस वर्णन में हमने यत्र तत्र इस सभ्यता की तुलना इसके ही समकालीन अन्य प्राचीन देशों से की है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी ज्ञात हो गया है कि सिंधु प्रांत की सभ्यता सिंधु प्रांत तक ही सीमित न थी।

महान् सभ्यताएँ एक ही देश तक सीमित नहीं रहतीं। प्रत्येक सभ्यता देशानुसार कुछ बातों में उच्च कौशल प्राप्त करती है और इस उच्च कौशल को दूसरी सभ्यताएँ सीखना चाहती हैं। यदि आवागमन की उचित सुविधाएँ हों तो यह और भी सरल हो जाता है। अफ्रेजियन कांट की सभ्यता के ही अंतर्गत सिंधु-प्रांत की सभ्यता आती है। यह सभ्यता नदियों के निकट उत्पन्न होकर उन्हीं के किनारों पर स्थित नगरों में फैली थी। उपजाऊ भूमि में रहने के कारण लोगों ने खेती में तो उन्नति की ही, साथ ही सभ्यता-पूर्वक रहने का ढंग भी उन्होंने सर्वप्रथम इन्हीं नदियों के तट पर सीखा।

प्रस्तर-ताम्र युग में भिन्न भिन्न देशों के बीच कई बातों में समानता थी। फियांस, घोंघे, रजत, स्वर्ण तथा टीन के प्रयोग से पूर्व के सभी लोग परिचित थे। खेती तथा पशुपालन भी इन सभी देशों में होता था। इसी प्रकार कुंभकार की कला और कताई-बुनाई से भी ये सभ्यताएँ परिचित थीं। किंतु इन सब समानताओं के होते हुए भी प्रत्येक देश ने अपनी अपनी संस्कृति में अपना विशिष्ट व्यक्तित्व लाने की चेष्टा की। यदि भारत में कपास की खेती और कताई-बुनाई होती थी तो मिस्र और बेबीलोन में अतसी की खेती तथा बुनाई होती थी। फिर मिट्टी के बर्तनों के ऊपर चित्रण करने में भी प्रत्येक देश ने कुछ अपनी विशेषता दिखलाई। सुमेर के बर्तनों पर मनुष्य-आकृति का चित्रण है, किंतु मोहेंजोदड़ो के एक भी बर्तन पर मनुष्य-चित्रण नहीं हुआ है। चित्रलिपि भी सभी देशों में प्रचलित थी, किंतु आवश्यकतानुसार सभी देशों ने थोड़ा बहुत परिवर्तन अपनी अपनी लिपि में कर लिया था*। इन सभ्यताओं में मोहें जो दड़ो कई बातों में अग्रणी था। मोहें जो दड़ो में जो स्थापत्य निजी या सार्वजनिक भवनों में दिखाई पड़ता है वह मिस्र तथा बेबीलोन के स्थापत्य से कहीं उच्चतर है†। फिर सड़कों को साफ रखने की जो सुंदर व्यवस्था मोहें जो दड़ो नगर में थी वह न तो मेसोपोटेमिया

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ९४।

† ऐ० वि इं० आ०, १९३२, पृ० ६।

में दिखाई पड़ती है और न सुमेर ही में। इसके अतिरिक्त जब संसार के कई प्राचीन देशों में सूत का कपड़ा एक स्वप्न की वस्तु के समान था, उस समय सिंधुप्रांत-निवासी सूती कपड़े का प्रचुर प्रयोग कर रहे थे।

किंतु ये विशेषताएँ उच्च समाज को ही दीख पड़ती होंगी। जनसाधारण के लिये तो सिंधु प्रांत का इसी लिए महत्त्व था कि यह एक उपजाऊ तथा धन-धान्य से परिपूर्ण भूमिखंड था। इस कारण यहाँ व्यापारी ही अधिकतर आते थे। भूमिमार्ग से आने जाने वाले अन्य स्थानों के काफिले इसी नगर में टिकते रहे होंगे। मोहें जो दड़ो नगर में इनके लिये अवश्य धर्म-शालाएँ या सराएँ बनी रही होंगी। स्थल से सिंधु प्रांत में आने के दो मार्ग थे। दक्षिण सिंधु तथा फारस को मिलानेवाली सड़क मक्रान और लासबेला रियासत से होकर जाती थी। आठवीं शती में मुहम्मद कासिम भारत में इसी मार्ग से आया था। बलूचिस्तान की ओर दो मार्ग थे। पहला मार्ग मुल्ला दर्रे से जोही होते हुए मनछर सरोवर के निकट पहुँचता था और दूसरा लक गर्री, लक फूसी, लक रोहेल तथा पंडी वाही और टंडो रहीम खान होते हुए सिंध पहुँचता था*। ऊपर खैबर का दर्रा था, जहाँ से ऐतिहासिक युग में भारत पर भी कई सफल आक्रमण हुए थे। बोलन दर्रे से

---

* आ० स० मे०, नं० ४८, पृ० १५३।

भी संभवतः आवागमन होता था। इनके अतिरिक्त कुर्रम, गुयाल तथा टोछी की घाटियों से भी कुछ लोग सिंधु प्रांत में आते रहे होंगे।

सिंधु प्रांत, इलम तथा सुमेर की अनेक वस्तुओं में समानताएँ दीख पड़ती हैं। इलम तथा सुमेर में सिंधु आदर्श की कई मुद्राएँ मिली हैं। जिन तहों या स्थलों पर ये मुद्राएँ निकली हैं उनकी आयु ई० पू० २८०० वर्ष मानी गई है। मोहें जो दड़ो में मालाओं की लड़ियों के अंत में लगाई जानेवाली वस्तुएँ अर्द्धवृत्त आकार की हैं। इस प्रकार के अंतक केवल इलम में ही पाए जाते हैं। बाद में तो ये मिस्र में भी बनने लगे थे। शृंगार, केशरचना और हजामत बनाने के ढंग सुमेर और भारत में एक ही से थे। हड़प्पा की कुछ कटारें भी सुमेर की कटारों की ही तरह हैं। मेसोपोटेमिया तथा सिंधु प्रांत का वास्तव में घनिष्ठ संबंध था। गुरियों पर श्वेत अंकन की शैली सिंधु प्रांत तथा मेसोपोटेमिया, दोनों देशों के लोग जानते थे, किंतु यह पता नहीं है कि इस शैली की उत्पत्ति सर्वप्रथम किस देश में हुई थी। हड़प्पा में प्राप्त शृंगार या चीर-फाड़ के औजारों के गुच्छे की तरह अनेक गुच्छे उर, किश तथा काफेजी में प्राप्त हुए हैं। इन सब औजारों को एक गोल छल्ले से बाँधा जाता था। मोहें जो दड़ो के रोटी बनाने के चूल्हे भी मेसोपोटेमिया ही की तरह थे।

---

* ऐ० रि० इं० आ० १९३२, पृ० ११।

दंतक मेहराब, गोल कूप और मिट्टी और पत्थर की बनी खिड़कियों की जालियाँ मोहें जो दड़ो तथा मेसोपोटेमिया में एक ही सी थीं। टेल आज्मर में सिंधु आदर्श की कई मुद्राएँ मिली हैं। इनमें एक वर्तुलाकार मुद्रा विशेष महत्त्व रखती है। यह मुद्रा निस्संदेह भारतीय है। इस मुद्रा पर अंकित हाथियों के पैर, कान, खाल की परतों तथा नील गाय के कानों को चित्रित करने का ढंग बिल्कुल वैसा ही है जैसा प्रायः मोहें जो दड़ो की मुद्राओं पर पाया जाता है। फिर मोहें जो दड़ो में ठप्पे लगाने की एक मुद्रा प्राप्त हुई है जिसके पीछे एक उठा हुआ दाना बना है और जिसके ऊपर एक केंद्रित वृत्त भी बना है। इस शैली की मुद्राएँ मेसोपोटेमिया के अतिरिक्त अन्य किसी देश में नहीं दीख पड़तीं। मेसोपोटेमिया के कंठहारों पर जो एक प्रकार की अंकित गुरियाँ हैं वे भी संभवतः सिंधु प्रांत से ही वहाँ गई हैं। मेसोपोटेमिया की एक मुद्रा पर भारतीय जेबू का भी चित्रण है। दानेदार शैली के बर्तन टेल आज्मर तथा मोहें जो दड़ो में प्रचलित थे*।

मोहें जो दड़ो में एक मुद्रा पर विचित्र चित्रण है। इसमें एक मनुष्य बाघ के साथ लड़ता दिखलाया गया है। सर जॉन मार्शल इस आकृति की तुलना मेसोपोटेमिया की दंतकथाओं में वर्णित 'गिलगामेश' (इबानी वीर) से करते हैं।

---

* ऐ०वि० इं० आ० १९३२, पृ० ३५।

मोहें जो दड़ो के शौचादि गृहों के ही समान कुछ शौचगृह मेसोपोटेमिया में भी थे। इनमें पानी को बाहर निकालने के लिये दोनों देशों में एक ही शैली के छिद्र बने थे।

भिन्न भिन्न प्रकार के सख्त पत्थरों की गुरियों के ऊपर सोने की टोपी चढ़ाने की प्रथा मोहें जो दड़ो, उर तथा सुमेर में प्रचलित थी। सुमेर में इस शैली की कम गुरियाँ थीं। मोहें जो दड़ो में इनके अधिकता से पाए जाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि इस शैली की गुरियों का उद्गमस्थान मोहें जो दड़ो ही था यहीं से ये गुरियाँ संभवतः सुमेर को भी भेजी गई थीं *।

डा० फ्रैंकफोर्ट को टेल आज्मर में कुछ ऐसे बर्तन प्राप्त हुए थे जिनकी सतह पर दाने बने हैं। इस शैली के बर्तन केवल मेसोपोटेमिया में ही प्रचलित थे, किंतु मोहें जो दड़ो में भी कुछ ऐसे बर्तन थे। यहाँ का एक बर्तन तो बिल्कुल टेल आज्मर के बर्तनों की तरह है।

किश में छिद्रों सहित मिट्टी की कुछ गोल वस्तुएँ मिली हैं। ये इतनी छोटी हैं कि इनके कंठहारों में प्रयोग किए जाने में संदेह होता है। संभवतः ऐसी वस्तुएँ किसी खेल में काम आती थीं। ऐसी ही अनेक वस्तुएँ मोहें जो दड़ो में भी प्राप्त हुई हैं।

मोहें जो दड़ो की गुरियों तथा मूर्तियों पर जो त्रिपत्र शैली का चित्रण है वह निस्संदेह मेसोपोटेमिया से लिया गया है।

---

* इंडियन एंटिक्वेरी, दिसंबर, १९३१, पृ० ४६५।

यह त्रिपत्र शैली यूनान तथा फारस में भी प्रचलित थी। पर यह ज्ञात नहीं है कि यह शैली कैसे उत्पन्न हुई। यह संभव है कि यह त्रिपत्र तीन वृत्तों के एक दूसरे को काटने से बना हो।

कंकड़ पत्थर का बना एक कान का आभूषण श्री साहनी ने प्राप्त किया था। इसपर खुले पंखों तथा चौड़े पैरोंवाले गरुड़ का चित्रण है। ऐसा चित्रण विशद रूप में इलम तथा सुमेर में मिलता है। मोहें जो दड़ो में इस ढंग का चित्रण बहुत कम हुआ है। कदाचित् यह शैली फारस के ऊँचे पहाड़ों से निकलकर भारत में आई हो*।

उर की शाही कब्रों पर गोलाकार पिटे हुए सोने की गुरियाँ मिली हैं। ऐसी ही गुरियाँ मोहें जो दड़ो में भी प्राप्त हुई हैं। दोनों स्थानों की गुरियों की शैली एक सी है। यह बतलाना कठिन है कि इस शैलो की उत्पत्ति सर्वप्रथम कहाँ हुई थी†।

हल्के नीले रंग के खड़िया पत्थर के एक बर्तन का एक खंड मोहें जो दड़ो में मिला है। इसपर चटाई की बुनाई का सा चित्रण है। सूसा, किश, फारस तथा टेल आज्मर के बर्तनों पर भी ऐसा चित्रण पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह बर्तन मोहें जो दड़ो में बाहर से आया था। फिर अलउवेद में भी कुछ ऐसे

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ६६४।

† वुल्ली—दि रॉयल सिमीट्री, पृ० ३६६।

बर्तन निकले हैं जो उन्हीं पत्थरों से बने हैं जिनसे कि कुछ भारतीय बर्तन बने हैं* ।

मोहें जो दड़ो में प्राप्त एक दूसरे बर्तन से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण तो यहीं हुआ था, किंतु यह बर्तन किसी प्रकार बाहरी देशों में चला गया था। फिर इन देशों में इस बर्तन की शैली में कई परिवर्तन किए गए थे। इसके बाद यह बर्तन फिर सिंधु प्रांत में लौटा था† । संगमरमर की बनी इलम तथा सुमेर शैली की अनेक मुद्राएँ मोहें जो दड़ो में पाई गई हैं। ये मुद्राएँ भी इन देशों से यहाँ आई रही होंगी।

सिंधु प्रांत तथा सुमेर के निवासी सिर पर नारों को भी बाँधते थे। ये नारे या तो स्वर्ण या रजत की पतली पट्टियों के बनते थे या ये बुने हुए होते थे। मोहें जो दड़ो में नारे का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे।

इनके अतिरिक्त मोहें जो दड़ो आदर्श की अनेक वस्तुएँ मेसोपोटेमिया में मिली हैं, और मेसोपोटेमिया आदर्श की मोहें जो दड़ो में। यह अवश्य है कि देशांतरित होने के कारण इनमें कुछ परिवर्तन हो गए हैं। पशुओं के अवयवों से बनी आकृतियाँ दोनों देशों में थीं। किंतु बेबीलोन तथा सुमेर

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ६३१ ।

† हॉल एंड वुली—अलउबेद, पृ० ४२ ।

में जो बैल हैं वे दाढ़ीवाले हैं। मोहें जो दड़ो में भेड़ के सिरोंवाली आकृतियाँ दाढ़ी से युक्त हैं। संभवतः दाढ़ी संबंधी विश्वासों का स्रोत एक ही था। भैंस तथा नीलगाय के सींगों का दोनों देशों में बराबर महत्त्व था। वुल्ली महोदय का कहना है कि इन देशों में पाई गई वस्तुएँ आकार में छोटी हैं। इनको एक से दूसरे देश में व्यापारी ही ले गए होंगे। इनसे पता चलता है कि या तो सिंधु प्रांत सीधा इन देशों से व्यापार करता था या कोई ऐसा मध्यस्थ केंद्र था जहाँ मोहें जो दड़ो तथा मेसोपोटेमिया के निवासियों का आना जाना रहा करता था। किंतु सिंधु प्रांत से बाहर के देशों में यहाँ की कम वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इनसे व्यापार की कोई विशेष संभावना नहीं दीख पड़ती है। कुछ विद्वानों की तो यहाँ तक धारणा है कि सुमेर में कुछ भारतीय एजंट रहते थे*।

दूसरी ओर डा० फ्रैंकफोर्ट कहते हैं कि केवल साधारण आवागमन से ही सभ्यता तथा संस्कृतियों में अधिक समानताओं का आना संभव नहीं है। ऐसे आवागमन से जातियों के रहन-सहन तथा धार्मिक विश्वासों में एकाएक परिवर्तन नहीं होता। कतिपय विद्वानों का कथन है कि इन सब देशों की सभ्यताएँ एक ही स्रोत से निकली हैं और शायद यह स्रोत फरात और नील के बीच कहीं स्थित था।

---

* वुल्ली—दि रॉयल सिमीट्री, पृ० ३९७-९९।

सिंधु प्रांत, इलम तथा सुमेर के संबंध में नाल की खुदाइयों से बहुत कुछ जाना जा सकता है। नाल की ऊपरी तहों पर तो हड़प्पा तथा मोहें जो दड़ो आदर्श के बर्तन मिले हैं, किंतु सबसे नीचे की सतह में बलूचिस्तान शैली के बर्तन थे। इस प्रकार नाल की वस्तुएँ भिन्न-भिन्न युगों में दो देशों के पारस्परिक संबंध पर प्रकाश डालती हैं।

बलूचिस्तान से भी मोहें जो दड़ो संबंधित था। सर औरियल स्टाइन की १९२७-२८ की खुदाइयों से ज्ञात हुआ है कि वजीरस्तान की पहाड़ियों के मूल पर सिंधु नदी की ओर किसी समय अच्छी बस्तियाँ थीं। सिंधु प्रांत की सभ्यता का किसी समय बलूचिस्तान के पूर्वी प्रदेशों, दक्षिणी भाग तथा डेराजात में बड़ा प्रभाव था। किंतु बलूचिस्तान के पश्चिम में सिंधु-सभ्यता नहीं पहुँच सकी थी। इस भाग में फारस की सभ्यता का प्रभाव था। फारस से प्रभावित सभ्यता के सर्वोत्तम उदाहरण नाल में पाए गए बर्तन हैं। नाल तथा सिंधु प्रांत की सभ्यताएँ कई बातों में एक दूसरे से भिन्न हैं। मोहें जो दड़ो की गैंतियाँ, दरांतियाँ, छोटे औजारों के फल और कटारें नाल की ऐसी ही वस्तुओं से सर्वथा भिन्न हैं। नाल में पीतल तो पाया ही नहीं गया। मातृदेवी तथा बैल के खिलौने भी नाल में नहीं थे। पूर्वी बलूचिस्तान के बर्तनों पर वही कारीगरी तथा चिह्न हैं जो मोहें जो दड़ो के बर्तनों पर हैं। सुकटागन तथा मोहें जो दड़ो के मिट्टी के बर्तनों में तो शत-प्रतिशत समानता है। यह

स्थान मक्रान में है। भारत तथा मक्रान के बंदरगाहों के बीच संभवतः किसी काल में व्यापार होता था। परस्पर वृत्तों को काटने के चित्रण की शैली मोहें जो दड़ो ही से बलूचिस्तान में पहुँची थी। क्योंकि मोहें जो दड़ो के अतिरिक्त यह शैली संसार के किसी अन्य देश को ज्ञात न थी। पीपल की पत्तियों के चित्रण की शैली भी बलूचिस्तान-निवासियों ने मोहें जो दड़ो से ही ली थी। मातृदेवी तथा बैलों का धार्मिक महत्व भी बलूचिस्तान-निवासियों ने सिंधु प्रांत से ही सीखा था।

बलूचिस्तान में मोहें जो दड़ो शैली का एक छिद्रयुक्त बर्तन, एक ताम्र का सिर, तथा आहुति-आधार का एक खंडित भाग प्राप्त हुआ है। शाही टंप में भी पत्थर की एक गोल वृत्ताकार वस्तु मिली है। यह वस्तु भी मोहें जो दड़ो की मुद्राओं के सिरों पर रखी जानेवाली वस्तुओं के सदृश है।

यह आश्चर्य सा है कि मोहें जो दड़ो और हड़प्पा की मृण्मूर्तियों की तरह बलूचिस्तान में कोई मूर्तियाँ नहीं बनीं। मेही से प्राप्त मूर्तियाँ तो कमर से नीचे एकदम चिपटी कर दी गई हैं। बलूचिस्तान की मूर्तियों में हाथ प्रायः वक्षस्थल को छूते दिखलाई देते हैं, किंतु मोहें जो दड़ो में हाथ बगल में गिरे रहते हैं। मि० मैके कहते हैं कि सिंधु प्रांत के निवासी कुंभ-कला में बलूचिस्तान निवासियों से बढ़े चढ़े थे।

आजकल का बलूचिस्तान प्राचीन काल के बलूचिस्तान से भिन्न है। आधुनिक बलूचिस्तान उजाड़ तथा बंजर है, किंतु

प्राचीन काल में यहाँ खूब वर्षा होती थी। यह खंड निस्संदेह बड़ा उपजाऊ रहा होगा। इसका प्रमाण वहाँ के उजाड़ गब-खंधों में मिलता है*। सर औरियल स्टाइन को जितने भी उजाड़ उपनिवेश मिले हैं वे किसी समय सुंदर व्यापारिक स्थान रहे होंगे। इनमें काफिले टिका करते रहे होंगे। किंतु आज सूर जंगल के अतिरिक्त किसी दूसरे स्थान में बस्ती नहीं है। हम पहले ही कह चुके हैं कि सिंधु प्रांत से बलूचिस्तान जाने के कई रास्ते थे। समृद्धिशाली होने के कारण दोनों देशों में आना जाना रहा करता था।

मिस्र सिंधु प्रांत से बहुत दूर है। इस कारण मिस्र देश की न तो कोई वस्तु मोहें जो दड़ो में मिली है और न मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा की ही कोई वस्तु मिस्र में मिली है। किंतु कुछ उदाहरणों से ज्ञात हो जाता है कि ये दोनों देश एक दूसरे से भली भाँति परिचित थे। कंठहारों में तीन भागों से बनी गुरियाँ तथा अर्धवृत्ताकर अंतक, इलम, मेसोपोटेमिया और सिंधु प्रांत के निवासियों को ज्ञात थे। संभव है यह शैली इन तीनों देशों ने एक ही स्रोत से ली हो। यह भी हो सकता है कि ये तीनों देश एक दूसरे से किसी रूप में संबंधित थे। इलम ही इन सब संस्कृतियों का केंद्र रहा होगा।

---

* आ० स० मे०, नं० ४३, पृ० १९० ।

दूसरी वस्तु मोहें जो दड़ो में मिस्र आदर्श की एक मूर्ति है। इस मूर्ति की मानव आकृति दाढ़ी वाली है। वह दाएँ पैर को झुकाए और बाएँ घुटने को जमीन पर रखे है। मोहें जो दड़ो की मूर्ति तो मिस्र देश की मूर्ति की प्रतिकृति जान पड़ती है। फिर मिस्र देश में कुर्सियों के पैर बैलों के पैरों के सदृश थे। बैल के पैरोंवाली कुर्सियों का चित्रण मोहें जो दड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर भी है। चारों ओर से काटी हुई गुरियाँ भी मोहें जो दड़ो तथा मिस्र दोनों देशों में प्रचलित थीं। प्राचीन काल में मिस्रदेश-निवासियों ने इस शैली की गुरियों के बनाने में बड़ी कुशलता प्राप्त की थी। मोहें जो दड़ो की गुरियाँ भी मिस्र ही से आई रही होंगी।

मिस्र तथा सिंधु प्रांत के निवासियों में कई धार्मिक समानताएँ भी थीं। मोहें जो दड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर एक लंब के साथ साथ कुछ पशुओं की मूर्तियाँ ले जाई जा रही हैं। ऐसे ही लंब मिस्र के जलूसों में फैरोद के आगे भी हैं। मोहें जो दड़ो में दो तांबे की पट्टियों पर तार या धागों की सजावट का चित्रण है। ऐसा चित्रण मिस्र देश के तेरहवें वंश की मुद्राओं पर भी दीख पड़ता है। मोहें जो दड़ो के एक मिट्टी के तख्ते पर एक लेटी स्त्री दिखलाई गई है। मिस्र में भी ऐसे खिलौने बनते थे। वहाँ ऐसे खिलौने शवों के साथ रखे जाते थे।

मक्खियों की शक्ल की कई गुरियाँ हड़प्पा में मिली हैं। ऐसी गुरियाँ मिस्र, सुमेर तथा सिंधु प्रांत-निवासियों

को ज्ञात थीं। ये गुरियाँ तावीजों के लिये प्रयुक्त होती थीं*।

कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में भारत से मिस्र को लोहा भेजा जाता था। वास्तव में संथालों तथा मिस्र देशनिवासियों की औजार बनाने की रीतियों में बड़ी समानताएँ हैं†। मिस्र तथा यूनान के साहित्य से ज्ञात होता है कि ये देश पूर्वीय देशों से उट्ज (एक प्रकार की धातु) मँगाते थे।

किंतु ये समानताएँ सिंधु प्रांत में सीधी मिस्र से नहीं आई होंगी। सुमेर तथा इलम में मिस्र की संस्कृति का प्रभाव था और यहीं से सिंधु प्रांत में भी मिस्र-संस्कृति का कुछ प्रभाव आया होगा।

मोहें जो दड़ो की दो मुद्राओं पर यूनानी क्रूशों का चित्रण है। नवीन पाषाण युग का एक क्रूश भी मोहें जो दड़ो में मिला है। यूनानी क्रूश इलम में बहुत पाए गए हैं। इन क्रूशों पर चौखट भी बनी है। संभवतः इस ढंग के क्रूशों की उत्पत्ति भी सिंधु प्रांत में ही हुई है।

डा० फाब्री प्रागैतिहासिक युग के यूनान तथा मोहें जो दड़ो की कुछ धार्मिक पद्धतियों में समानताएँ देखते हैं‡। क्रीट के

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ६४२।

† मित्र—प्रीहिस्टॉरिक इंडिया, पृ० १८४-८५।

‡ आ० स० रि०, १९३४-३५, पृ० ९३-१००।

कतिपय भित्तिचित्रों में बैलों की लड़ाई के दृश्य दिखलाए गए हैं। बाद को इस खेल का नाम 'तौरकथपशिया' प्रचलित हो गया था। इन दृश्यों में मनुष्य कभी बैलों को पकड़ते और कभी उनके ऊपर से होकर कूदते दिखलाए गए हैं। मोहें जो दड़ो की एक मुद्रा पर भी ऐसा ही दृश्य अंकित है। इन खेलों का विशेष धार्मिक महत्व था। ये खेल मातृदेवी संप्रदाय से संबंध रखते थे। क्रीट में सींगों का भी विशेष महत्त्व था। यह बतलाना कठिन है कि इन दोनों देशों में कैसे ये समानताएँ आईं। यद्यपि भारत में मातृदेवी की पूजा का इतिहास अति प्राचीन है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि मुद्राओं पर अंकित यह दृश्य क्रीट से ही मोहें जो दड़ो में आया है। प्राचीन काल में क्रीट सप्त समुद्रों से व्यापार करता था। संभवतः क्रीट के कुछ व्यापारी सिंधु-प्रांत के बंदरगाहों में भी आए थे।

पशुओं को एक पंक्ति में अंकित करने की शैली मोहें जो दड़ो के कुछ तावीजों पर है। इस ढंग की चित्रकारी फारस, सूसा तथा मेसोपोटेमिया में भी प्रचलित थी*।

उरक तथा सिंधु प्रांत के बर्तन भी एक से ही थे। ये बर्तन या तो काले तथा लाल मिश्रित या हल्की नीली मिट्टी के बने हैं। वुल्ली महोदय का कहना है कि उरक लोग उत्तर से आए थे। उनका एक वर्ग, संभव है, सिंधु प्रांत में भी आया हो। अपनी

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ६५३।

तथा सिंधु प्रांत की सभ्यता को मिलाकर इन्होंने उस संस्कृति को जन्म दिया जिसके अवशेष सारे सिंधु प्रांत में मिलते हैं* ।

प्राचीन काल में भारत तथा ईरान में बड़ा घनिष्ठ संबंध था। इन देशों में परस्पर शांतिमय व्यापार होता था। उस काल में खैबर तथा बोलन के दो प्रसिद्ध दर्रों से ही आवागमन होता रहा होगा। भारत तथा ईरान के बीच का सीमा-देश अरधनक तथा कतरनक नदियों के बीच स्थित था। संभवतः प्रसिद्ध नदी हर्‌वैती भी यहीं पर थी।

प्राचीन भारत में आवागमन के मार्ग जल और थल दोनों से होकर थे। ये दोनों मार्ग बराबर व्यवहार में रहे होंगे। मोहें जो दड़ो के एक बर्तन पर पतवार सहित एक नाव बनी है। ऐसी नावें बड़ी नदियों में चला करती रही होंगी† । ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु प्रांत के निवासी नौ-विद्या में निपुण थे। यहाँ के निवासी नदियों के तट पर रहते थे। सुविधा के लिये प्रत्येक संपन्न व्यक्ति अपनी अपनी नावें रखता रहा होगा। मछली मारने तथा व्यापारिक वस्तुओं को ले जाने के लिये भी वे ही नावें प्रयुक्त होती थीं। आज दिन भी सिंधी लोग अच्छे नाविक होते हैं। उनके यहाँ की बनी हुई नावें कई प्रकार की होती हैं। इनमें हूँडी, जुंपटिस तथा जोरुक मुख्य हैं।

* चाइल्ड—न्यू लाइट ऑन दि मोस्ट एंशंट ईस्ट, पृ० २२५।

† मैके—इं० सि०, पृ० १७७।

यह ज्ञात नहीं है कि सिंधुप्रांत-निवासियों का सामुद्रिक ज्ञान कैसा था। शंख, सीपी तथा घोंघे (जो अच्छी संख्या में सिंधु प्रांत में मिले हैं) के आधार पर कहा जा सकता है कि इस प्रांत के लोग समुद्र से अच्छी तरह परिचित थे। मि० मैके को एक ऐसी मुद्रा मिली है जिसमें एक जहाज बना है। इस जहाज में मस्तूल नहीं है, और इस कारण अनुमान किया जाता है कि यह जहाज किसी नदी में ही चलता रहा होगा*।

ऋग्वेद के कई स्थलों पर समुद्र का उल्लेख है। उदाहरणार्थ—

१. वेदा योवीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नाव: समुद्रियः।

२. उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्। ये अस्या आचरणेषु दध्रिरे समुद्रे न श्रवस्यव:†।

किंतु यह बतलाना कठिन है कि ऋग्वेद में 'समुद्र' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या था। विद्वानों की धारणा है कि आर्य लोग नदियों ही को समुद्र कहते थे। ऋग्वेद के किसी भी मंत्र में इस बात का उल्लेख नहीं है कि वहाँ पतवार और जहाज किसी सामुद्रिक यात्रा के लिये प्रयुक्त होते थे‡। ऋग्वेद के एक मंत्र में

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ३४०।

† ऋग्वेद १, २५,७; १, ४८, ३।

‡ कैं० हि० इं०, जिल्द १, पृ० १०१।

अवश्य वर्णन है कि कुछ लोगों को जल से थल तक पहुँचने में तीन दिन लगे थे। हमारी धारणा है कि इस मंत्र के लिखने-वाले व्यक्ति से किसी ने समुद्र-यात्रा का वर्णन किया होगा। कदाचित् इसी के आधार पर उसने ऐसा लिखा हो।

प्राचीन काल में भारत बाहर के कई देशों से व्यापार करता था। डा० सेईस के मतानुसार ई० पू० ३००० में भारत तथा बेबीलोन के बीच व्यापार होता था*। इसके प्रमाण हमें उर से प्राप्त भारतीय 'ऊर्ण' में मिलते हैं। बेबीलोन के कपड़ों की एक सूची में भी 'सिंधु' शब्द मलमल के लिये प्रयुक्त हुआ है। नेबूछेदनेजर (ई० पू० ६०४-५६२) के महल में भारतीय देवदारु की एक कड़ी मिली थी†। बावेरु जातक से ज्ञात होता है कि बेबीलोन को भारत से मोर ले जाए गए थे‡। ब्रिटिश म्यूज़ियम में प्रदर्शित एक गोल नलिका से ज्ञात होता है कि असीरिया के सम्राट् सेन्नाचेरिब ने निनवेह में भारतीय कपास के पौधे लगाने का प्रयत्न किया था, किंतु उसे अपने उद्योग में सफलता नहीं मिली§।

---

* ज० र० ए० सो०, १८९८, पृ० २४१-८८।

† मुकर्जी—ए हिस्ट्री ऑव इंडियन शिपिंग, पृ० ८७।

‡ जातक—अनूदित, कावेल ऐंड्रूज, पृ० ८३।

§ प्रोसीडिंग्ज ऑव दि सोसाइटी ऑव बिबलियोग्रैफिकल आर्कियो-लॉजी, १९०६, पृ० २३९।

चाल्डिया के कुछ उत्कीर्ण लेखों से भी ज्ञात होता है कि उर नगरी के कई जहाज भारत से सुवर्ण लाते थे। इससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में उर का भारतीय बंदरगाहों के साथ संबंध था।

अरब इतिहासज्ञों के काल तक सिंधु में अच्छे अच्छे बंदरगाह थे। किंतु उस समय भी मिट्टी भर जाने के कारण नदियों के मुहाने खराब हो रहे थे। देबाल, तत्था इत्यादि स्थान एक समय सिंधु प्रांत के विख्यात बंदरगाह थे। सन् १८१२ ई० में निकोलस विरिंगटन ने तत्था के विषय में लिखा था कि 'इंडीज में तत्था के सदृश अन्य कोई बंदरगाह नहीं है'। ढाई वर्ष बाद टैवरनियर ने इस बंदरगाह को बुरी दशा में देखा। ऐतिहासिक युग में अरब देश के तट पर ऐसे जहाजी थे जो कि इथियोपिया, सिंधु तथा अन्य खाड़ियों के बंदरगाहों से व्यापार करते थे*।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मोहें जो दड़ो के वास्तविक निवासी यहीं के निवासी थे या बाहर से आए थे। हम अभी देख चुके हैं कि सिंधु-सभ्यता के अवशेषों का अध्ययन करने से इसमें अनेक वैदेशिक तत्त्व दिखलाई देते हैं। किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है, मोहें जो दड़ो की वस्तुओं की एक अपनी विशेषता है। यदि यहाँ लोग बाहर से आए भी थे तो वे

---

* रौलिन्सन—इंडिया एंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० ३।

दीर्घकाल तक यहाँ रहे होंगे। शताब्दियों तक यहाँ रहने के पश्चात् उन्होंने अपनी तथा स्थानीय सभ्यता को मिलाकर एक नवीन संस्कृति की स्थापना की। इसका प्रमाण यहाँ के मिट्टी के बर्तनों पर मिलता है। मोहें जो दड़ो के पहले के बर्तनों पर विदेशी प्रभाव है, किंतु बाद के बर्तनों में स्थानीय तथा स्वतंत्र शैली दीख पड़ती है।

संभवत: कुछ सिंधी सौदागर किश तथा सूसा में भी रहते थे। आज कल की ही तरह उन दिनों भी लोग आजीविका के साधन ढूँढ़ने इधर उधर जाते रहे होंगे। बाहर के लोग तो अवश्य ही इस स्वार्थ से सिंधु प्रांत में आते थे। आज दिन भी बलूचिस्तान की ओर से कई कबीले या जत्थे जीविका पाने की आशा में भारत की ओर आया करते हैं*।

सिंधु प्रांत में पश्चिम से आने का एक उदाहरण आईवेक्स (आल्प्स पर्वत के जंगली बकरे) के चित्रण में मिलता है। इस पशु का चित्रण मोहें जो दड़ो और हड़प्पा के मिट्टी के बर्तनों और मुद्राओं पर पाया जाता है। चन्हू दड़ो की एक मुद्रा पर भी इस पशु का चित्रण है। स्मरण रहे कि सिंधु प्रांत में यह पशु नहीं पाया जाता था। आईवेक्स सदैव उजाड़ तथा पथरीली भूमि को पसंद करता है। पश्चिम ही से आईवेक्स के चित्रण की शैली सिंधु प्रांत में आई थी†।

* चाइल्ड — न्यू लाइट ऑन दि मोस्ट एंशंट ईस्ट, पृ० १८५।
† आ० स० मे०, नं ४८, पृ० १५२।

सर औरियल स्टाइन की धारणा ठीक है कि किसी समय बाहर से लोग भारतीय-ईरानी सीमा को पार करते हुए भारत में आए थे। इस बात की पुष्टि बोगाजकोई के लेखों से भी होती है। बोगाजकोई खत्ती लोगों की राजधानी थी। इसका प्राचीन नाम खत्तूशश था। यह विलायत प्रांत के अंकोरा नामक स्थान में स्थित है*। इस लेख का काल ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दि के मध्य का है। इसमें इंद्र, वरुण तथा नासत्य सहोदरों का उल्लेख है। डा० गाइल्स के अनुसार यह लेख यह प्रमाणित करता है कि आर्य लोग पश्चिम से पूर्व की ओर आ रहे थे†।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिंधु प्रांत अनेक सभ्यताओं को शरण दे रहा था। यह बात प्रागैतिहासिक युग में ही नहीं, बल्कि ऐतिहासिक युग में भी दीख पड़ती है। सैकड़ों सभ्यताओं तथा संस्कृतियों ने यहाँ अपना प्रभुत्व जमाने का यत्न किया किंतु उन्हें भारतीय सभ्यता ने बड़ी सफलता से अपनी सभ्यता में रँग लिया।

——

* इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, १४वाँ संस्करण, जिल्द ३, पृ० ५३८।

† कै० हि० इं०, जिल्द १, पृ० ७२।

उपसंहार

एक लंबी गाथा के बाद मन में प्रश्न उठते हैं—क्या सचमुच हम सभ्यता के इतने ऊँचे धरातल पर पहुँचे हुए थे? हृदय कहता है हाँ, किंतु मुँह ऐसा कहने में संकोच करता है। सिंधु प्रांत की जीर्ण-शीर्ण काया में प्राचीन युग की वैभव-स्मृति को देखकर एक ओर जहाँ हम गौरव से मस्तक ऊँचा करते हैं, वहाँ दूसरी ओर हमारे हृदय में करुणा का स्रोत उमड़ पड़ता है। इन विशाल नगरों की अपार चहल-पहल, इनके भवनों की गर्वोन्मत्त ऊँची अट्टालिकाएँ, नागरिकों की ठहाके की हँसी तथा कार्य-व्यस्तता, सब अतीत की वस्तुएँ हो गई हैं। अपने यश के दिनों में सिंधुप्रांत-निवासी एक उज्ज्वल तथा सुखमय भविष्य का स्वप्न देखते रहे होंगे, किंतु विधि का विधान, ३०० वर्षों के ही अंदर वह इतिहास की वस्तु बन गया! आज इन भग्नावशेषों में एक ओर तो सनसन करती हुई वायु के साथ आहें निकलती हैं, दूसरी ओर भिन्न भिन्न प्रकार के कीट, श्यामकल्याण राग में, सिंधु प्रांत के लुप्त गौरव का गान करते रहते हैं।

वे यश के दिन थे जब मोहें जो दड़ो एक विशाल नगरी थी। जीवन को मधुरिमामय बनाने के लिये यहाँ के निवासियों ने अनेक प्रकार की सुविधाओं तथा शिल्पों की सृष्टि की। किंतु

अवसर मिला। अलचेंद्र से पहले या उसके बाद भी भारतवासियों ने बाहर जाने के बंधनों तथा रुकावटों की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि समस्त प्रकाश पूर्व से आता है, किंतु पश्चिम की किरणों का भी उन्होंने स्वागत किया।"*

भारत की सबसे बड़ी महत्ता तो यह थी कि उसने अन्य संस्कृतियों को अंगीकार कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को और भी विस्तृत तथा व्यापक बनाया।

ऐतिहासिक युग में भारत का बाहरी देशों पर विशेष प्रभाव पड़ा। ऐसा शांत तथा मृदु प्रभाव संसार के इतिहास में कम मिलता है। जूलियस सीजर या नेपोलियन की तरह भारत ने संसार को कभी साम्राज्य-विस्तार के लिये विजय नहीं किया। इस देश की ओर आकर्षित होने का कारण यहाँ की उच्च परंपराएँ तथा आदर्श थे, जिनके नायक थे प्राचीन ऋषि-मुनि, बुद्ध, महावीर तथा सम्राट् अशोक। इस देश के ऋषि-मुनियों ने सदैव मानव-कल्याण की शुभ कामना की —

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

(अर्थात् सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सबका कल्याण हो, कोई दुःख का भागी न हो।)

---

* गौरांगनाथ बनर्जी—हेलिनिज़्म इन एंशंट इंडिया, पृ० ३.

बौद्ध काल में सैकड़ों विद्यार्थी ज्ञानोपार्जन के लिये तक्षशिला, विक्रमशिला तथा नालंदा के शिक्षा-केंद्रों में आते थे। हुएनसांग जिसने गोबी के भयंकर रेगिस्तान, ताइन शान, हिंदूकुश, सिंधु, गंगा तथा पामीर के पठार की कठिन यात्रा बड़े प्रेम से पूरी की, इन्हीं आदर्शों तथा ज्ञान को (जिसको उसने महामति शीलभद्र तथा स्थिरमति से सीखा) सुनकर भारत आया था।

हम इस समय ऐतिहासिक युग का वर्णन कर रहे हैं, किंतु हमारा विचार है कि उस प्रागैतिहासिक युग में भी भारत इसी प्रकार संस्कृतियों का गुरु था। उस काल में भी भारत ने अन्य जातियों को धर्म तथा नैतिकता का संदेश दिया था। पर यह भी संभव है कि उस काल में भारत में ज्ञानपिपासा शांत करने के लिये कोई न आया रहा हो। बाहर से आनेवाली जातियाँ धनलोलुप थीं और वे सिंधु प्रांत में केवल धनोपार्जन के ध्येय को लेकर आती थीं। किंतु भारत अपने आदर्शों के प्रचार में तत्पर रहा होगा।

५००० वर्षों के अंदर संसार में कितना परिवर्तन हो गया है! इस बीच संसार ने क्या क्या देखा? मिस्र, बेबीलोन, रोम तथा यूनान का पतन, इँगलैंड की औद्योगिक क्रांति, फ्रांस की राज्यक्रांति आदि। और अब प्रतिदिन हम देख रहे हैं कि विज्ञान के करतबों द्वारा मनुष्य घुन की तरह पीसे जा रहे हैं। इन ५००० वर्षों में कई सभ्यताओं ने करवटें लीं। कई

देश ऊपर उठे, कई धूल में मिले। कई राष्ट्रों का क्षणिक उत्थान हुआ जिसके कारण उनकी परंपराओं के कोई भी चिह्न आज दिन नहीं मिलते। पानी के बुलबुलों की तरह वे ऊपर उठे और शीघ्र ही विलीन हो गए। दूसरी ओर हम देखते हैं कि सिंधु प्रांत की अनेक परंपराएँ आज के भारत में वर्तमान हैं। सिंधु प्रांत की सभ्यता की एक विशिष्ट आत्मा थी। वही आत्मा इन परंपराओं को इन ५००० वर्षों में एक युग से दूसरे युग तक ढकेलती चली आ रही है।

संभवत: कालांतर में सिंधुप्रांत-निवासियों के जीवन में असमानता ने प्रवेश कर लिया था। हम अन्यत्र देख ही चुके हैं कि मोहें जो दड़ो में अधिकतर व्यापारी ही रहते थे। और यदि वहाँ लोग 'गणों' में संगठित नहीं थे तो पूँजीपतियों का अवश्य वहाँ बोलबाला रहा होगा।

इतने वर्षों के अनंतर जब हम सिंधु प्रांत के निवासियों की कौतूहलजनक कल्पनाओं तथा उनके प्रयोग की वस्तुओं की ओर देखते हैं तो कैसी सुखद स्मृतियाँ हृदय में जागरित होती हैं! सिंधु-सभ्यता को हम परिपक्व रूप में पाते हैं। इसका जन्म तो न जाने कितने हजार वर्ष पहले हो चुका था। आज हम इस संस्कृति और सभ्यता के आचार तथा व्यवहार को ही देखने का यत्न करते हैं। किंतु हमें इन लोगों का यशोगान नहीं करना है। संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने का कदापि यह अर्थ नहीं कि हम किसी देश के महत्वपूर्ण तथा वीरोचित

कार्यों की प्रशंसा करते फिरें। हमें तो यह देखना चाहिए कि उन लोगों की भावनाएँ तथा कल्पनाएँ किस सीमा तक पहुँची थीं, उन लोगों में आदर्शों का पालन करने की कितनी शक्ति थी और भूगोल और इतिहास का उनके कार्यों तथा सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ा था। इन सब बातों की परीक्षा के बाद ही हम इस बात को जान सकते हैं कि मनुष्य के ज्ञान-भंडार के लिये उनकी वास्तविक देन क्या है।

इन थोड़े से पृष्ठों में मैंने मोहें जो दड़ो तथा सिंधु-सभ्यता की कहानी समाप्त की है। किंतु वास्तव में यह बात नहीं है। संसार में किसी भी कहानी का अंत नहीं होता, दृष्टि से हट-कर ये कहानियाँ मनुष्य के हृदयों में शांति-पूर्वक वास करती हैं। यदि संसार इन कहानियों को नहीं देख सकता तो दूसरी बात है। भूतकाल से भविष्य दृढ़ता के साथ संबद्ध है। जब तक मनुष्य तथा सभ्यता नाम की कोई वस्तु संसार में रहेगी, इन विशाल नगरों की कहानियाँ चलती जायँगी। भिन्न भिन्न दृष्टि-कोणों से लोग इनपर विचार करेंगे। फिर भी एक बात में वे सब एक रहेंगे, क्योंकि अनेक परिस्थितियों में रखे जाने पर भी हम सब हृदय से एक ही हैं, और वह बात है मनुष्य-उद्यम की पराकाष्ठा तथा जीवन की नश्वरता का विचार। कभी तो उन्हें मनुष्य के उस उद्यम पर गौरव होगा जिसके आधार पर इतनी उच्च सभ्यताएँ खड़ी हुईं, और कभी वे जीवन की निस्सारता पर विचार करने लगेंगे। इसी निस्सारता से प्रभावित होकर

प्राचीन ऋषि, मुनि सांसारिक भोग-विलासों को छोड़कर भयंकर वनों तथा कंदराओं में तप करने निकले थे और इसी 'मिथ्या' तथा क्षण-भंगुरता पर विचार करने के कारण भगवान् बुद्ध लौकिक ऐश्वर्यों से विरक्त हुए थे। ज्ञानोदय होने पर फिर मनुष्य महाकवि कालिदास के साथ कहेंगे—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां
विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।

—रघुवंश ८।८७

अर्थात् विनाश शरीरधारियों का स्वाभाविक धर्म है, बुद्धिमान् लोग जीवन को उस स्वाभाविक धर्म की एक विकृति मात्र कहते हैं—

और

एकांतविध्वंसिषु मद्विधानां,
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।

—रघुवंश २।५७

अर्थात् जितने भौतिक पिंड हैं वे अंततोगत्वा अवश्य नाश को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये बुद्धिमान् उनके प्रति अधिक आस्था नहीं रखते। केवल यशःशरीर ही इस लोक में शेष रह जाता है।

संसार में दो दिन कोलाहल मचाकर मिट्टी के पुतले मनुष्य मिट्टी ही में मिल जाते हैं। रह जाती हैं केवल स्मृतियाँ। भविष्य के लोग फिर उनके कार्यों की निंदा या प्रशंसा करते फिरते हैं।

किंतु उन्होंने भी मानव जीवन की लघुता तथा विशालता का रसास्वादन किया था। वे सब हमारे ही जैसे साधारण पुरुष थे—देवपुरुष नहीं। इस कारण भविष्य के मनुष्यों का इन अस्तंगत सभ्यताओं के लोगों के प्रति सदैव सहानुभूति का दृष्टिकोण होगा। जिस प्रकार एक कुशल गवैया टूटी वीणा के टूटे तारों को देखकर उनसे एक बार निकली हुई कोमल स्वरलहरियों की याद करता है, उसी प्रकार भविष्य के लोग भी सिंधु-सभ्यता के अवशेषों को देखकर उस स्वर्णमय युग का अनुमान कर लेंगे और फिर मेरी कोलरिज के साथ कहेंगे—

"महान् मिस्र देश चूर चूर होकर विस्मृति के गर्त्त में विलीन हो गया है। यूनान, ट्राय नगर, रोम की महत्ता, वेनिस का गौरव सब मिट्टी में मिल गए हैं। शेष रह गए हैं केवल वे धूमिल, क्षणिक भ्रांतिपूर्ण स्वप्न जो इन महान् देशों की संतानों को दिखाई पड़ते हैं।"*

* Egypt's might is tumbled down.
Down adown the deeps of thought,
Greece is fallen and Troy town,
Glorious Rome hath lost her crown,
Venice's pride is nought.
But the dreams their Children dream,
Fleeting unsubstantial, vain,
Shadowy as the shadows seemed,
Airy nothing, as they deemed,
These remain.

—Mary Colridge.